

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186356

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP 23 -4-4-69—5,000.

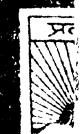
OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. *H 80.1/CSIP* Accession No. *H 3765*

Author *पं० हूलत श्रीवास्तव*

Title *पं० का काव्य-दर्शन - 1963*

This book should be returned on or before the date
last marked below



घंत् का काव्य-दर्शन



लेखक :

डा० प्रतापसिंह चौहान पी-एच०डी०

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

युवराजदत्त कालेज,

लखीमपुर



प्रत्यूष प्रकाशन

कानपुर

प्रकाशक—	प्रत्यूष प्रकाशन, कानपुर
लेखक—	डा० प्रतापसिंह चौहान
प्रकाशन काल—	१९६३
आवरण चित्रकार—	बी० के० डे
आवरण मुद्रक—	जाब प्रेस, कानपुर
जिल्दसाज—	रफीक एण्ड सन्स, कानपुर
मुद्रक—	विवेक प्रिंटर्स, कानपुर
मूल्य—	तीन रुपये पचास न० पै०

सुहृद्वर

डा० जगदीश नारायण त्रिपाठी

को

सस्नेह समर्पित



विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
१. अपनी बात	—
२. विषय प्रवेश	—
३. पंत जी का प्रारम्भिक काव्य और विचार-सरणि (वीणा-ग्रन्थ पल्लव-गुञ्जन-ज्योत्स्ना-निष्कर्ष)	१-२७
४. पंत जी के मध्य-युगीन काव्य की विचार-धारा (युगान्त-युगवाणी-ग्राम्या)	२८-५१
५. पंत जी की रचनाओं का तृतीय चरण अथवा उनका अधुनातम काव्य और अरविन्द-दर्शन (स्वर्ण किरण-स्वर्ण झूलि-उत्तरा और युगान्तर)	५२-८८
६. काव्य-रूपक (रजत शिखर-फूलों का देश-उत्तर-शती-शुभ्र पुरुष - विद्युत्-वसना - शरद चेतना--शिल्पी- ध्वंस-शेष-अप्सरा-स्वप्न और सत्य-सौवर्ण- अतिमा-वाणी-कला और बूढ़ा चांद)	८९-१२१

अन्य प्रमुख छायावादी कवियों के काव्य पर दर्शन का प्रभाव

७. श्री जयशंकर प्रसाद (कामायनी में प्रसाद जी की दार्शनिक स्थापना -- प्रत्यभिज्ञा - दर्शन - नियति-	१२२-१३४
---	---------

वाद-अभेदवाद और आभासवाद-समरसता का
 सिद्धान्त-प्रत्यभिज्ञा दर्शन का आनन्दवाद और
 कामायनी-बौद्ध दर्शन (दुःखवाद)-क्षणिकवाद
 -करुणा-परिमाणुवाद और प्रसाद जी-द्वन्दात्मक
 भौतिकवाद और प्रसाद के काव्य पर उसका
 प्रभाव)

८. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का काव्य और दर्शन १३४—१३८
 (निराला जी और मार्क्स-दर्शन)
९. महादेवी वर्मा का काव्य और दर्शन १३८—१४०



अपनी बात

छाया—युगीन कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पंत का विशिष्ट स्थान है। हिन्दी-काव्य को उनकी रचनाओं द्वारा अभिनव दृष्टि प्राप्त हुई है। उनके काव्यान्तर्गत समय-समय पर विचार और कल्पना, दर्शन और भावना के जो महीन धागे प्रकट हुये हैं, उनसे हिन्दी काव्य निश्चित ही महिम हुआ है। वैसे तो पंत जी समूर्तन (Imagery) और सौन्दर्य के अन्यतम कवि हैं ही, किन्तु उनके काव्य के अनुसंधित्सु को उसमें विचारणा और दर्शन की एक अटूट श्रृंखला भी मिलेगी। उनकी विचारणा भावना और कहीं-कहीं अतीन्द्रिय अनुभूति से संयुक्त होकर रहस्यवादी (Mystic) दर्शन के छोरों को भी छूती हुई दृष्टिगोचर हुई है। कहीं-कहीं उसने आधुनिक विचारकों की विचार-सम्पत्ति से अपने को समृद्ध बनाया है। प्रस्तुत पुस्तक में उनकी इसी विचार—सरणि को रूपायित करने की चेष्टा की गई है। यदि मनीषी साहित्यिकों को यह कुछ भी पसन्द आई, तो लेखक अपने कार्य को सफल मानेगा।

इस पुस्तक के प्रणयन में लेखक को जिन-जिन विद्वानों की पुस्तकों से सहायता मिली है, वह उनका आभार बड़ी विनम्रता से स्वीकार करता है।

—लेखक

विषय प्रवेश

काव्य और दर्शन का अभिन्न सम्बंध अत्यंत प्राचीन काल से स्वीकार किया जा सकता है। साक्षात्कीकृतसत्य की तर्क-संमत स्थापना भारतीय दृष्टि-कोण से दर्शन की परिभाषा स्वीकार की जा सकती है। केवल तर्काश्रित सत्य का बौद्धिक निरूपण पाश्चात्य-विचारकों का दार्शनिक परिवेश रहा है। किन्तु इसे भारतीय मनीषी कथमपि सत्य की चरम उपलब्धि के रूप में स्वीकार करते नहीं प्रतीत होते। भारतीय दर्शन का आयाम मानस के बौद्धिक स्तरों को अतिक्रमण करके अनुभूति के धरातलों पर प्रतिष्ठित दृष्टिगोचर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय मनीषी ने सत्य चिन्तन की अपेक्षा सत्यानुभूति को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। इसीलिये उसमें विश्लेषण की अपेक्षा संश्लेषण और पार्थक्य की अपेक्षा एकत्व पर अधिक प्रकर्ष प्राप्त होता है। इसीलिए उसकी मान्यताओं में कटुता की अपेक्षा मृदुता, विषमता की अपेक्षा समता और अनास्था की अपेक्षा आस्था पर अधिक बल दिया गया है। सारांश में भारतीय दर्शन अध्यात्म की चरम उपलब्धि में ही दर्शन का प्रकृष्ट रूप स्वीकार करता है।

दर्शन की भाँति काव्यान्तर्गत भी अनुभूति को प्रधानता प्राप्त हुई है। देश-विदेश में सर्वत्र ही उसी काव्य को श्रेष्ठ कहा गया है जो कि हृदय की गहरी अनुभूतियों को अंकित करने में समर्थ हुआ है, जो पाठक या श्रोता के हृदय-संवेदनों को झंकृत करने की क्षमता रखता है। इससे यह-निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कवि हृदय के संवेदनों के अधिष्ठान का परिचय प्राप्त करने के लिए दार्शनिक की ही भाँति सतत प्रयत्नशील है। इस तथ्य के अनुसार दार्शनिक और कवि दोनों एक ही मार्ग के यात्री हैं और दोनों का गन्तव्य तथा प्राप्तव्य एक ही कहा जा सकता है। इस प्रकार दोनों का वह गन्तव्य तथा अभीष्ट आत्मा के अति-रिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इसीलिए श्री अरविन्द ने मंत्र को काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप स्वीकार किया है। उनकी इस प्रकार की धारणा से यह सिद्ध होता है कि आत्मा दर्शन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है और

काव्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि मंत्र । अध्यात्म में आत्मोपलब्धि के लिए अनेक योग-प्रणालियों का विधान प्राप्त होता है । उनमें से कुछ की साधना अत्यंत नीरस होती है, किन्तु उसके समानान्तर अनेक अन्य योग-प्रक्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है जो अत्यंत सरस और आनन्दमयी है । इन यौगिक प्रक्रियाओं को कुछ मनीषियों ने 'मिस्टिक' (रहस्यवादी) कहा है । मधुमती भूमिका, जिसको कुछ आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के समक्ष की स्थिति माना है, उस रहस्यमय धरातल की एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार की गई है । जिस प्रकार मधुमती भूमिका योग की अन्तिम उपलब्धि नहीं है, ठीक इसी प्रकार काव्यान्तर्गत साधारणीकरण को भी काव्यानन्द की अन्तिम प्राप्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । वास्तव में साधारणीकरण भी काव्य की चरम आनन्दोपलब्धि का एक श्रेष्ठ उपकरण ही है, काव्य का चरम तो वह शाश्वत आनन्द कहा जा सकता है जो साधारणीकरण के पश्चात् अनुभूत होता है । कदाचित् उसे ही हम आत्मानन्द अथवा आत्मोपलब्धि भी कह सकते हैं जो भारतीय दर्शन के प्रमुख विषय के रूप में स्वीकार की जा सकती है । उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि दर्शन तथा काव्य-दोनों का मुख्य लक्ष्य आनन्दोपलब्धि है और इसीलिए जहाँ दोनों को अभिन्न कहा जा सकता है, वहीं उन्हें आध्यात्मिक अथवा रहस्यवाद का धरातल पर भी स्वीकार किया जा सकता है ।

उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में जब हम काव्य की उत्कृष्टता पर विचार करते हैं तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उत्कृष्ट काव्य वह है जो हमारे मानस को आनन्द की सर्वोत्कृष्ट भूमिका पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता रखता है । उसके विपरीत जिस काव्य में आनन्दानुभव कराने की जितनी कम क्षमता होगी वह इतना ही अधम कहा जाना चाहिये । भारतीय-काव्य-शास्त्र की काव्य में रस की प्रतिष्ठा के मूल्य में यही विचारणा मुख्य रूप से सन्निविष्ट रही है । हम इस पुस्तक में काव्य और दर्शन की अद्वैत भूमि पर पंत जी के काव्य-दर्शन की समीक्षा उपस्थित करने जा रहे हैं ।

प्रथम अध्याय

पंत जी का प्रारंभिक काव्य और उनकी विचार-सरणि

श्री सुमित्रानन्दन पंत हिन्दी के ऐसे कवि हैं, जिन्हें अनेक विचार-धाराओं ने प्रभावित किया है। उन प्रभावों के फलस्वरूप उनके काव्य में भावों तथा विचारों के विविध रंग दृष्टिगोचर होते हैं। कविवर पंत ने समय-समय पर अपने काव्य को जितने मोड़ दिए हैं उतने कदाचित ही अन्य हिन्दी कवि ने दिए हों। इस अध्याय में उनके काव्य की एतद्विषयक समग्र विवेचना के सन्दर्भ में उनकी उन रचनाओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

वीणा

पंत जी का प्रथम काव्य-संग्रह 'वीणा' सन् १९१८-१९१९ में प्रकाशित हुआ था। निश्चित रूप से उन्होंने इसके पूर्व ही अपनी रचनायें प्रारम्भ कर दी होंगी। स्पष्ट है कि 'पंत जी' का यह संग्रह द्विवेदी युग के मध्याह्न काल में प्रकाशित हुआ; अतएव उनके इस काव्य में द्विवेदी-युग की विचारधारा का किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। यह भी स्वाभाविक था कि उनकी नव्य-काव्य-चेतना को तत्कालीन काव्य-धारा का विरोधी जानकर आलोचकों द्वारा विरोध सहना पड़े। श्री पंत ने 'वीणा-ग्रन्थि' के संयुक्त प्रकाशन के 'विज्ञापन' में एतद्विषयक भय को स्पष्ट भी किया है।^१ विज्ञापन में जहाँ उन्होंने

^१—वारि-विकार के प्रेमियों के कठोर आघात से बचने के लिए एक बार मैंने सोचा था कि इस भूमिका में अत्यन्त विनीत तथा शिष्ट-शब्दों की चाटुकारी का रोचक जाल फैलाकर उनकी रण कुशल चोंच बांध दूँ। 'विज्ञापन' वीणा-ग्रन्थि (द्वितीय संस्करण २००७ वि०)

काव्य में नूतन भाव-धारा के प्रवर्तन की सूचना दी है, वहीं वह तत्कालीन कटु 'आलोचक-कठफोरो' से आतंकित भी प्रतीत होते हैं।

पंत जी काव्य की छायावादी धारा के प्रवर्तकों में समर्थ तथा प्रमुख कवि माने जाते हैं। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविताओं की प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दी काव्य में भाव-प्रधान रचनाओं की प्रतिष्ठा हुई थी और उसके सूक्ष्म प्रतिमा-स्थापन को देखकर तत्कालीन आलोचकों ने इस नव्य काव्य-धारा को 'छायावाद' की व्यंग्य पूर्ण संज्ञा से स्मरण किया था। अस्तु, निष्कर्ष यह कि इस काव्य-धारा में भाव की प्रधानता थी किन्तु, तत्कालीन विचारधारा से भी सर्वथा असंपृक्त इसे नहीं कहा जा सकता। यद्यपि पंत जी ने दर्शनशास्त्र का अध्ययन सन् १९२३ ई० में प्रारम्भ किया था और उसके पूर्व ही 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' की अनेक भावुकतापूर्ण सरस-सुन्दर रचनाओं की सृष्टि हो चुकी थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वे सदा से ही इतने संवेदनशील (Sensitive) रहे हैं कि उन्हें युग के अनेक आन्दोलनों ने अतिशय रूप से प्रभावित किया है। यही कारण है कि उनके 'वीणा' और 'पल्लव' में 'शेली-टेनीसन' की कल्पना स्वर वैचित्र्य तथा सौन्दर्य दृष्टि का संयुक्त प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके इन काव्य-ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता कोमल-भावना की काव्य में अवतारणा और नव्य रूमानी शैली का प्रयोग है। किन्तु, जिस प्रकार उनकी इन रचनाओं में काव्य-मूल्यों में अति-क्षिप्र परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार जीवन-मूल्यों में वह प्रगति दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी इस (वीणा) संग्रह की रचनाओं में द्विवेदी-युग के कवियों के समान ही ईश्वर के प्रति प्रणति दृष्टिगोचर होती है। 'वीणा' का प्रथम रचना 'नव बसंत-ऋतु में आओ' जहाँ कविता का आह्वान करती है वहीं उसे 'द्विवेदी युग' की ईश-वन्दना से भी प्रकारान्तर से मुक्ति नहीं मिल सकी है। 'बाल-काल में जिसे जलद से' शीर्षक 'वीणा' में संग्रहीत रचना की निम्नलिखित पंक्तियों में उपर्युक्त द्विवेदी युगीन विचारणा का उदाहरण

मिल जायगा :—

जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है,
नव वसन्त जिसका श्रृंगार,
तारे हार, किरीट सूर्य-शशि,
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार,
मलयानिल मुख-वास, जलधि मन,
लीला लहरों का संसार,

उस स्वरूप को तू भी अपनी
मृदु बाहों में लिपटाले,—
रमा अंग में प्रेम पराग !^१

यद्यपि उपर्युक्त पंक्तियों में द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता प्रसूत उपदेश की नीरसता नहीं है, वरन् कविता का मार्दव और उसका सरस प्रवाह द्विवेदी युगीन कविता से पृथक्ता प्रतिष्ठित करते हुये अत्यन्त मोहक और आकर्षक हो गया है, फिर भी जीवन-मूल्य की निर्धारणा में यह द्विवेदी-युग से अधिक दूर नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'बीणा तेरा अद्भुत है व्यापार' नाम्नी रचना भी द्विवेदी युगीन कवियों के 'वाणी-वन्दन' के अनुरूप ही कही जा सकती है। इस रचना में भी कवि पंत ने 'कविता-देवी' अथवा वाणी की वन्दना की है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं, जिनसे उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जायगी। कविता में दो चित्र दिए गए हैं— एक है संपन्नता के दंभ का तथा दूसरा है अकिंचनता के दैन्य का। दंभ से सरस्वती नहीं रीझती वह तो उसी के गले का हार बनती है जो सर्वतोभावेन अकिंचन होकर — दीन होकर उसे समर्पित हो जाता है।

- (१) स्वर्ण-सौध-शुचि बनवाये थे,
 मैंने कितने उच्च, अपार,
 विप्र बालकों ने गाए थे,
 तेरे गुण-गण जहां उदार,
 अगणित मुद्रा दान दिए औ,
 किया सभी कुछ शिष्टाचार,
 किन्तु वहाँ मां ! नहीं सुनाई,
 तूने निज नूपुर झंकार ।^१

+ + +

- (२) हाय ! अन्त में अवनत-वदना,
 अश्रु-लोचना हो लाचार,
 अतिशय दीना, विभव-विहीना
 हो जब मैंने सर्व प्रकार,
 क्षीण क्षपाकर की छाया में
 नलिनी बन की कण पुकार,
 मां ! तब तूने मुझे दिखाई
 अपनी ज्योतिर छटा अपार ।^२

उपर्युक्त उद्धरणों से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि जहां पंत की आरम्भिक रचनाओं में नव्य कल्पना, मार्दव और अभिनव बिंबों का प्रयोग प्राप्त होता है वहीं उनकी जीवन-सम्बन्धी विचारणा में अपने पूर्ववर्ती काल से अधिक पृथक्ता नहीं दृष्टिगोचर होती। साथ ही यह बात भी सिद्ध होती है कि 'पंत' की प्रारम्भिक रचनाओं से ही विचार का एक सूत्र प्राप्त होता है, जो सतत वर्द्धमान होता रहा है, यद्यपि उनके इस जीवन-दर्शन के देश, काल के प्रभाव के अनुरूप अनेक रूप रहे हैं, फिर भी ध्यान पूर्वक देखने से उनके इस विचार वैचित्र्य में लक्ष्य

१—वीणा पृष्ठ ७२ (द्वितीय संस्करण, सं० २००७)

२— " ७३ " " ७४

को लेकर एक सूत्रता प्राप्त होती है ।

ग्रन्थि

‘ग्रन्थि’ का प्रणयन कवि ने सन् १९२० ई० में किया था । पंत जी की यह रचना कथानक प्रधान है । इसे पढ़कर सहसा ‘प्रसाद’ जी के विरह-काव्य ‘आँसू’ का स्मरण हो आता है । साथ ही यह भी आभास होने लगता है कि इसके पश्चात् कवि किसी मूल्यवान् महा-काव्य की सृष्टि करेगा । ‘प्रसाद’ जी ने तो ‘आँसू’ के पश्चात् ‘कामा-यनी’ महाकाव्य की सृष्टि करके इस संभावना को मूर्तित किया, किन्तु पंतजी की ओर हम आज भी आशा की दृष्टि लगाए हुए हैं । अस्तु, ‘ग्रन्थि’ विरह प्रधान खण्ड-काव्य की सी भूमिका में लिखी गई है । कवि ने भी ‘ग्रन्थि’ के ‘विज्ञापन’ में संक्षिप्त ‘कथा भाग’ को स्वीकार किया है । इस रचना में कवि ने लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है और इससे उसका जीवन-दर्शन स्पष्ट होता है कि वह लौकिक से पारलौकिक, सान्त से अनन्त, विशाल हृदयता वाले सिद्धान्त का समर्थक है । वह व्यक्ति को व्यष्टि के सीमित कटघरे में ही बन्दी नहीं बनाना चाहता वरन् उसे समष्टि के अनन्त सागर में विलीन करने में ही श्रेय मानता है । इस प्रकार की वैधानिक परिकल्पना तत्कालीन प्रमुख कवि ‘प्रसाद’ जी से प्रभावित जान पड़ती है । फिर भी इससे ‘पंत’ जी की दार्शनिक चिन्ता-धारा का पता लगता है । ‘ग्रन्थि’ में कवि ने अपने वैयक्तिक विरह-जन्य दुःख को सार्वभौम बनाने की चेष्टा की है । स्पष्टता के लिए ग्रन्थि से दो अवतरण उद्धृत किए जा रहे हैं—

- (१) आज मैं सब भाँति सुख-सम्पन्न हूँ,
वेदना के उस मनोरम विपिन में,
विजन-छाया में द्रुमों की, योग सी,
विचरती है आज मेरी वेदना ।

विपुल कुंजा की सघनता में छिपी,
ऊँघती है नींद सी मेरी स्पृहा,
ललित लतिका के विपिकंत अधर में,
कांपती है आज मेरी कल्पना ।^१

× × ×

(२) ओस जल से सजल मेरे अश्रु हैं,
पलक दल में दूब के बिखरे पड़े ।
पवन पीले पात में मेरा विरह,
है खिलाता दलित मुझको फूल सा ।
सुमन दल में फूट, पागल सी अखिल,
प्रणय की स्मृति हँस रही है, मुकुल में ।
वास है अज्ञात भावी कर रही,
आज मेरी द्रौपदी सी परवशा ।^२

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने अपनी वेदना को प्रकृति के प्रत्येक कण में देखने की चेष्टा की है और इस प्रकार वह व्यक्ति से समाज को श्रेष्ठ मानने की विचारधारा का समर्थक प्रतीत होता है ।

‘बीणा’ तथा ‘ग्रन्थि’ काल की काव्य तथा वैचारिक उपलब्धि का वर्गीकरण मुख्य रूप से तीन स्तम्भों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(१) काव्य—(अ) नूतन छन्द तथा भाषा का प्रयोग ।

(ब) नयी प्रतिमाओं, बिंबों एवं प्रतीकों का प्रयोग ।
कोमलता के प्रति विशेष आग्रह ।

(स) विषय व्यक्ति-निष्ठ होते हुए भी समष्टि में प्रवर्तित करने का आग्रह ।

(द) द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध भाव-प्रवणता तथा सरसता की ओर विशेष आग्रह ।

१—ग्रन्थि, पृष्ठ १३७ (द्वितीय संस्करण सं० २००७)

२— “ “ “ “ “

(१) वैचारिक-(क) द्विवेदी युगीन प्रभु भक्ति के समान किसी अव्यक्त शक्ति के प्रति आस्था । वाणी के आह्वान में उस सत्ता की भक्ति-भावना की स्वीकारोक्ति ।

(ब) सान्त से उठकर अनन्त की प्राप्ति की स्पृहा ।

पल्लव (१९१८-२५)

‘पल्लव’ पन्त जी की १९१८ से १९२५ तक की विभिन्न रचनाओं का संग्रह है । इस संग्रह की रचनाओं को प्रायः सभी विचारधाराओं के आलोचकों ने भाव, भाषा तथा काव्य-कला की दृष्टि से पन्त जी का सर्वश्रेष्ठ काव्य-संग्रह माना है । जैसा कि ऊपर कहा गया है ‘पल्लव’ की रचनाओं की मूल-धारा रुमानी है । इनमें कवि के हृदय का आह्लाद-विषाद तथा प्रेम-विरह रूपायित हुये हैं । भावुकता इन कविताओं की प्राण है । रुमानी होने के कारण इन रचनाओं को आदर्शवादी भी कहा जा सकता है । ‘पल्लव’ की रचनाओं में कवि ‘पन्त’ के निष्कपट हृदय-स्पन्द प्राप्त होते हैं जिन्हें कवि ने बड़ी ईमान-दारी से अभिव्यक्ति दी है । कल्पना वैभव से धनवान तथा भाव-संपत्ति से आपूर्यमाण कवि के इस संग्रह की कुछ कविताओं की बानगी दी जा रही है, जिनमें उसने नव्य बिम्ब-विधान का राशि-राशि सौन्दर्य विखरा दिया है । ‘पल्लव’ शीर्षक रचना की कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

(१) प्रथम मधु के फूलों का बान,

दुरा उर में, कर मृदु आघात ।

रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान,

पल्लवों की यह सजल प्रभात ।

शिराओं में उर की अज्ञात,

नव्य जग-जीवन कर गतिमान ।

- (२) कल्पना के ये विह्वल बाल,
 आँख के अश्रु, हृदय के हास ।
 वेदना के प्रदीप की ज्वाल,
 प्रणय के ये मधुमास ।
 सुछवि के छाया बन की सांस
 भर गई इनमें हाव, हुलास ।

- (३) आज पल्लवित हुई है डाल,
 झुकेगा कल गुञ्जित-मधुमास ।
 मुग्ध होंगे मधु से मधुवाल,
 सुरभि से अस्थिर मरुताकाश ।

‘पल्लव’ की ‘पल्लव’ शीर्षक उपर्युक्त रचना में कवि ने अपनी नव्य कल्पना को सर्वथा नवीन उपमा—बिंब अलंकरणों द्वारा सजाया है और प्राचीन अलंकारों से पृथक् अपनी सत्ता प्रतिष्ठित की है। ‘पल्लव’ को कल्पना के विह्वल बाल, आँख के अश्रु, हृदय के हास, वेदना के प्रदीप, प्रणय के मधुमास, के रूप में देख कर सचमुच ही कवि ने अपनी अप्रतिम कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। कल्पना और बिंब—विधान के बंधान द्वारा कवि ने असंदिग्ध रूप से अपनी रचना को जो रसवत्ता प्रदान की है, वह पाठक को अपने में आविष्ट करने की पूर्ण क्षमता रखती है।

इस रचना के अन्तिम बन्द में कवि ने अपनी चिन्तना—सरणि का आभास दिया है। कवि का युवक हृदय युवकोचित आदर्शों और आशाओं से आपूर्यमाण है। चारों ओर बिखरी हुई जीवन की रंगीनी उसे मानों अपने पास पहुँचने के लिए आमन्त्रित कर रही हो। कवि उस राशि-राशि सुषमा का उपभोग करना चाहता है वह सब उसी के

लिए तो है किन्तु उसकी व्यष्टि समष्टि की इकाई है, वह उसे उससे पृथक् नहीं मानता । उसका इस प्रकार सोचना-कितना स्वाभाविक है कि जो डाल आज पल्लवित हुई है उसमें कल मधुमास गूँजेगा । भारतीय चिन्तना की यही आनन्दवादी पद्धति रही है जिसमें विषाद की भावना का लवलेख भी नहीं ।

‘पल्लव’ तथा ‘पत’ के अन्य पूर्ववर्ती संग्रहों की कविताओं में हृदय का उच्छ्वास, नैराश्य, संयोग, विरह, करुणा, प्रकृति के विभिन्न चित्रणों द्वारा उसके प्रति ममता रूप का बहुरङ्गी अंकन, प्रकृति के तन्मयता के चित्रण द्वारा अध्यात्म का नूतन अभिव्यञ्जन (जो कि काव्य तत्त्वों के अन्तर्गत ही अभिव्यक्त हुआ है) प्राप्त होता है । वास्तव में पत जी की पल्लव तक की रचनाओं का मूल उद्देश्य रूप-माधुर्य का सर्वथा नवीन शैली में अंकन रहा है ।

‘पल्लव’ की ‘परिवर्तन’ शीर्षक रचना कवि की प्रारम्भिक वैचारिक अवस्था को प्रकट करती है । पल्लव की अन्य रचनाओं का स्वर युवकोचित माधुर्य से संपृक्त है । उन सब में प्रेम-विरह की वाणी परिव्याप्त है । किन्तु, ‘जीवन-यान’ तथा ‘परिवर्तन’ शीर्षक रचनायें उसके काव्य-तत्त्वों से पृथक् जीवन-दर्शन का विधान करती हैं, जो उनके कवि को क्रमशः दार्शनिक बनाता गया है । हमें यह अन्तर स्पष्ट रूप से उनकी ‘भावी पत्नी के प्रति’ ‘बाँध दिए प्राणों से प्राण’ तथा ‘परिवर्तन’ सरीखी रचनाओं से तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त होता है ।

‘पत’ जी को दर्शन से प्रेम अपने प्रारम्भिक जीवन से ही रहा है । उनकी सहचरी अन्तर्मुखी वृत्ति ने उन्हें अन्दर डूब कर सोचने के लिए बाल्यावस्था से ही विवश किया है । इसलिए उनकी रचनाओं में अन्तर्पट उद्घाटित करने का प्रयत्न आवश्यकता से अधिक प्राप्त होता है । यह बात नहीं कि उन्हें बाह्य जगत ने बिलकुल ही आकर्षित न किया हो, किन्तु वे बाह्य चित्रण करते-करते सहसा अन्तर की गहराइयों में डूब जाते हैं । उनके ये द्वन्द्व कभी तो मानव-सौन्दर्य तथा प्राकृतिक

सौन्दर्य के संघर्ष के रूप में प्रकट हुए हैं और कभी जागतिक नश्वरता के कारण उनके मन में जगत के प्रति विरसता भर गई है। इस प्रकार संसार से प्राप्त विपुल विषमता को सहज सुसंगठित रूप देने के प्रयास में उनका कवि सतत प्रयत्नशील रहा है। उनकी एतद्विषयक चिन्ता-धारा का आयाम उनके समग्र कवि-कर्म के सीमान्तों का स्पर्श करता है।

‘पत’ जी की इस प्रकार की रचनाओं को प्रायः हिन्दी-समीक्षकों ने रहस्यवाद के अन्तर्गत लिया है। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि रहस्यवाद से संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लिया जाय।

‘रहस्यवाद’ शब्द का प्रयोग हमें अपने प्राचीन साहित्य में नहीं प्राप्त होता। किन्तु हिन्दी में जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है, वह प्राचीन दार्शनिक शब्दावली पराविद्या अथवा ब्रह्मविद्या के अत्यधिक निकट है। पराविद्या हमें पारलौकिक सत्ता का परिचय कराती है। अर्थात् पराविद्या वह है जो अपरा से भिन्न है। अपरा-विद्या का सम्बन्ध सांसारिक परिवेश से सम्बन्ध रखता है। सांसारिक प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील होने के कारण नश्वर है। यह संसार त्रिगुणों के सम्पात से निर्मित हुआ है, इसलिए बुद्धि को भी त्रिगुणातीत नहीं कहा जा सकता। इसलिए बुद्धि के वृत्त के अन्तर्गत अभी तक जो कुछ सोचा-समझा गया है, उसे परा-संवित के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। बुद्धि के वृत्त से ऊपर जो परम ज्ञान का क्षेत्र है, जिसमें केवल ‘इन्द्यूशन’ के सहारे प्रवेश किया जा सकता है, पराविद्या अथवा ब्रह्मविद्या का क्षेत्र है। वहाँ की वस्तुयें जानी-पहचानी न होने के कारण तथा उनकी सर्वथा अभिनव अनुभूति के कारण व्यक्ति का मन सतत जिज्ञासा से आपूर्यमाण रहता है। साधक अपनी योगिक साधनाओं के द्वारा उस अलौकिक और इन्द्रियातीत जगत में प्रविष्ट होता है और कवि अपनी भावुकता और सौन्दर्यानुभूति द्वारा उस अलौकिक प्रदेश

का संपर्क करता है ।

वैदिक काल से ही व्यक्ति को उस अलौकिक जगत का परिचय प्राप्त होने लगा था । उसके एतद्विषयक अनुभवों का प्रारूप तो कभी तो अलौकिक कल्पना के रूप में ^१ और कभी जिज्ञासा के रूप में प्रकट हुआ है । ^२ कहीं कहीं वैदिक ऋषि उस विराट सत्ता का साक्षात्कार कर मुग्ध हो गया है । ^३ वेदों और उपनिषदों के अन्तर्गत रहस्यवाद का उपर्युक्त स्वरूप ही प्राप्त होता है । उस रहस्य चेतना को हम अतीन्द्रिय सौन्दर्यानुभूति और प्रभु के अलौकिक रूप की विराटता में अनुस्यूत पाते हैं ।

वेदों और उपनिषदों के पश्चात् यह रहस्य भावना तन्त्रों, नाथों, सिद्धों और सन्तों के काव्य में दो रूपों में विकसित हुई । प्रथम को साधनात्मक और द्वितीय को भावनात्मक रहस्यवाद की संज्ञा दी जा सकती है । साधनात्मक रहस्यवाद के भी दो रूप स्थिर किए जा सकते हैं । प्रथम में चिन्तन के द्वारा आत्म-लाभ का प्रयास दृष्टि-गोचर होता है । इसके अन्तर्गत योग-क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है । ^४ रहस्यवाद का द्वितीय रूप रागात्मक कहा जा सकता है । इसके भी बीज हमें ऋग्वेद से ही उपलब्ध होते हैं । वहाँ पर मनीषी ऋषि अपनी बुद्धि या मति को वरणीय वधू के रूप में स्वीकार करते देखे जाते हैं । अथर्ववेद के अन्तर्गत आत्मा के लिए नारी-संज्ञा उपलब्ध होती है । ^५ नारी

१—ऋ० ५-५४-११, ५-८३-३, ७-८८-३

२—अथर्व० १०-७-६, १०-७-४

३—अथर्व० १०-७-३३, १०-७-३२

४—अष्टाचक्र नवद्वारा देवानां पूरयौद्धया ।

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणोभिसंवृतम् ।

५—इयं कल्याण्य जरा मृत्युस्यमृता गृहे । अथर्व०

में समर्पण का भाव सर्वाधिक होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वह अपने व्यक्तित्व को समग्र नहीं मानती। अतएव वह पुरुष के प्रति सर्वथा निवेदित होने की काँक्षा रखती है। आत्मा भी मल-विक्षेपादि के कारण अपनी असीमता को विस्मृत किये रहता है, अतएव वह असीम परमात्मा में अपनी स्वकीयता को खो देना चाहता है। रागात्मक अथवा भावनापरक रहस्यवाद के मूल में यही विचार प्रधान रूप से दृष्टि-गोचर होता है।

भावनात्मक रहस्यवाद का सर्वाधिक प्रभाव सगुण भक्ति पर परिलक्षित होता है। क्योंकि भक्ति की यह शाखा द्वैत भावना पर अधिष्ठित है। भक्त जो ससीम है अपने व्यक्तित्व को असीम परमात्मा को समर्पित कर देना चाहता है। अन्दाल, मीरा और चैयन्त की मधुर भावना में रहस्यवाद का यही रूप प्रकट हुआ है। सूफीमत में भी रहस्यवाद का यही रूप प्राप्त होता है। कबीर के “दुलहिनो गाओ मङ्गलचर, हमारे घर आये राम भरतार” तथा “पलकों की चिक डारि कै, पिउ को लीन्ह रिझाय” आदि रचनाओं में भी रहस्यवाद का यही रूप माना जाना चाहिए।

पाश्चात्य जगत में भी रहस्य भावना का रूप उपलब्ध होता है। वहाँ इसका जन्म प्लैटो और प्रोटोनिस् से माना जाना चाहिए। इसके रहस्य-चिन्तन में आत्मा-परमात्मा का अद्वैत रूप नहीं मिलता है। इसलिए उनके द्वारा प्रतिष्ठित रहस्यवाद भारतीय रहस्यवाद से प्रथक अपना अस्तित्व रखता है।

ईसाइयों के अनुसार रहस्यवाद धर्म की समाप्ति पर अस्तित्व में आता है। वे नरक स्वर्गादि को कोई महत्व नहीं देते। वे अपने ससीम व्यक्तित्व को असीम में खो देना चाहते हैं।

पश्चिमीय रहस्यवादियों में डायनोसियस भारतीय रहस्यवादियों के सर्वाधिक निकट है। वह आत्मा और परमात्मा को समानधर्मा मानता है

और उनके तादात्म्य में विश्वास करता है। उसका कहना है कि प्रेम का यह स्वभाव होता है कि वह व्यक्ति को वही रूप प्रदान कर देता है जिससे वह प्रेम करता है।^१ इसके अतिरिक्त उसकी सर्वाधिक भारतीय रहस्यवादियों से समता इस तथ्य की स्वीकृति में दृष्टि गोचर होती है। जहाँ वह यह निरूपित करता है कि सत्यानुभूति का ज्ञान परम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।^२ हमारे ऋषियों ने भी प्रायः यही बात कही है :

“यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेदसः”।

इसी प्रकार ‘एकहार्ट’ ने भी आत्मा-परमात्मा की एकता को स्वीकार किया है।

हिन्दी काव्यान्तर्गत कबीर आदि सन्त कवियों के काव्य में साधनात्मक तथा भावनात्मक दोनों रहस्यवादों का स्वरूप उपलब्ध होता है। वैसे तो रहस्यवाद के उपर्युक्त दोनों रूप अत्यन्त महान है, किन्तु हमारे विचार से रहस्यवाद का भावनात्मक रूप काव्य के अधिक निकट माना जाना चाहिए। क्योंकि साधना की नीरसता और विरक्ति काव्य की सरसता की कथमपि समानधर्मा नहीं कही जा सकती। ऋषियों तथा संतों आदि की वही रचनायें पाठक के मन को आविष्ट करने की सामर्थ्य रखती हैं, जिनमें मनोरमता और सारस्य है, जो भावना से अतिशय भावित हैं।

छायावादी कवियों में प्रसाद के काव्य के अन्तरगत रहस्य भावना का स्वरूप मुख्यतया जिज्ञासा और विराटत्व के रूप में प्रकट हुआ है। महादेवी जी भावना की साम्राज्ञी हैं और उनके काव्य में नारी-गुरुष के

1-- It is the nature of love to change a man into which he loves.

2-- If anyone sees God and understands what he sees he has not seen God at all.

प्रतीकों का बाहुल्य है। इसी संदर्भ में पंत जी की रचनाओं का भी अग्रिम पंक्तियों में विशद अनुशीलन किया जा रहा है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि 'छाया' युगीन सभी कवियों की यह रहस्य भावना, कल्पना चिन्तन तथा रहस्य के राग से ऊपर नहीं उठ सकी है। इसलिये उन्हें प्राचीन दार्शनिक तथा साधक कवियों के रहस्यानुभूतियों के समकक्ष रखना उन मनीषियों के साथ अन्याय होगा।

पल्लव से लेकर गुंजन तक की रचनाओं में चिन्तन के परिवेश में औपनिषदिक दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि यह बात नहीं है कि इसके पूर्व कवि का परिचय उपनिषदों के दर्शन से न हो किन्तु इन संग्रहों में विशेष रूप से वह स्पष्ट हुआ है। 'पल्लव' की रचनाओं में हमें मुख्य रूप से काव्य की मनोरमता और दर्शन की चिन्तना के मंजुल समन्वय का संतुलन प्राप्त होता है। 'पल्लव' की 'नक्षत्र' 'छाया' संध्या तथा 'बादल' आदि रचनाएं इसके उदाहरण के लिए देखी जा सकती हैं। इन रचनाओं में कवि का ध्यान वैविध्य की ओर आकर्षित हुआ है। वह एक तत्व के विकास को आविष्ट करने वाली बहुरंगी कहानी कहता हुआ सा प्रतीत होता है उपर्युक्त कुछ रचनाओं से नीचे कुछ उदाहरण उपस्थित किए जा रहे हैं :

- (१) सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर
मेघ दूत की सजल कल्पना
चातक 'के चिर जीवन—धर
जलाशयों में कमल दलों सा
हमें खिलाता नित दिनकर
पर बादल—सा वायु सकल—वल
विखरा देता, चुन सत्वर । ^१

कहो कौन हो दमयन्ती—सी
 तुम तरु के नीचे सोई ?
 हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
 अलि ! नल—सा निष्ठुर कोई !
 गूढ़ कल्पना —सी कवियों की
 अज्ञाता के विस्मय—सी
 ऋषियों के गंभीर हृदय—सी
 बच्चों के तुतले भय—सी । ^१

ऊपर के उदाहरणों में कवि ने 'बादल' और 'छाया' को विविध रंग-रूपों में देखने का प्रयास किया है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह उन्हें सार्वभौम और सर्वव्यापक रूप देने की चेष्टा में है। उसका यह प्रयास वेदान्त के 'एको-एको प्रतिरूपो बभूव' के सिद्धान्त के कितना अनुरूप है, बताने की आवश्यकता नहीं। किन्तु इन तथा पल्लव की अन्य उल्लिखित रचनाओं में काव्य-वैभव इतना तेजवन्त रहा है कि उसे दर्शन की चिन्तना नीरस नहीं बना पाई।

'पल्लव' काव्य संग्रह में केवल दो ही ऐसी रचनायें हैं जिनमें कवि का सारस्य कलाभिव्यंजन प्रधान न होकर दर्शन-प्रधान हो गया है। वे रचनायें हैं 'जीवन दान और परिवर्तन'। इन रचनाओं पर उपनिषदों के निषेधात्मक दर्शन और शंकर के 'मायावाद' का प्रभाव लक्षित होता है। कवि को अपने जीवन में विषाद और संसार की प्रत्येक वस्तु में नश्वरता दृष्टि-गोचर हुई है। गौतम बुद्ध के समान ही उसने जीवन आयाम सतत परिवर्तन होता हुआ देखा है और वह मर्माहत होकर अपने 'स्व' से ही अनेक प्रश्न करता है। उसकी इस प्रकार की जिज्ञासा निम्न पंक्तियों में देखिए:—

१— 'छाया' शीर्षक रचना पृष्ठ, ४५ (पल्लव चतुर्थ वृत्ति १९४२)

अहे विश्व ! ऐ विश्व—व्यथित मन ।

किधर बह रहा है जीवन ?

यह लघु पोत, पात, तृण, रज कण,

अस्थिर भीरू वितान,

किधर किस ओर ? अछोर अजान

डोलता है यह दुर्बल—यान ? १

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि जगत की नश्वरता के अन्तर्गत प्रवाहित होने वाले जीवन के गन्तव्य को जानने की जिज्ञासा करता है । कदाचित् उसका मन जागतिक परिवर्तनों के कारण संसार से विरक्त हो गया है और वह चिर सत्य की प्राप्ति के लिए आतुर होकर कह उठा है 'दृगों से बरसा यह अपिघान, देव ! कब दोगे दर्शन—दान ?' जीवन—यान शीर्षक उपर्युक्त रचना में शंकर के मायावाद से अधिक बौद्धों के शून्यवाद का प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है ।

'परिवर्तन' शीर्षक रचना में मात्र भौतिक पदार्थों की नश्वरता का वर्णन नहीं प्राप्त होता जो प्रमुखतः बौद्ध दर्शन का विषय रहा । अपितु इसमें उपनिषदों के अद्वैतवाद का भी सिद्धान्त अनुस्यूत मिलता है । उदाहरणार्थ निम्न पंक्तियाँ देखिए :—

हाय ! सब मिथ्या—बात ! —

आज तो सौरभ का मधुमास

शिशिर में भरता सूनी साँस !

वही मधु ऋतु की गुंजित-डाल

झुकी थी जो यौवन के भार,

अकिंचनता में निज तत्काल,

सिहर उठती,—जीवन है भार !

आज पावस—नद के उद्गार,
काल के बनते चिन्ह—कराल,
प्रात का सोने का संसार,
जला देती संध्या की ज्वाल ।

अखिल यौवन के रंग—उभार,
हड्डियों के हिलते कंकाल;
कचों के चिकने, काले व्याल,
केंचुली, काँस, सिवार,
गूँजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार ।^१

X

X

X

आह भीषण उद्गार !

नित्य का यह अनित्य नर्तन,
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषन,
विश्व का तत्त्व पूर्ण-दर्शन !

अतल से एक अकूल उमङ्ग,
सृष्टि की उठती तरल-तरंग,
उमड़ शत-शत बुद्-बुद् संसार,
बूड़ जाते निस्सार ।

एक छवि के असंख्य उड़गन,

एक ही में सब स्पन्दन;

एक छवि के विभाव में लीन,
एक विधि के आधीन !^२

X

X

X

१—‘परिवर्तन’ शीर्षक कविता पृष्ठ ७७ (पल्लव, चतुर्थ वृत्ति १९४२)

२— " " " ८६ " " "

एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास ।^१

उद्धरणों के पूर्वाह्न में बौद्ध दर्शन और शंकराचार्य के मायावाद से विशेष रूप से कवि प्रभावित जान पड़ता है जिसके कारण उसे समस्त साँसारिक पदार्थों में परिवर्तन और अनित्यता का आभास हुआ है। किन्तु अन्तिम अवतरणों में उसे जगत में व्याप्त एक ही तत्त्व के लीला-विग्रह का दर्शन हुआ है जो अपने को अनादि-काल से नाश-निर्माण के युग्मों में अभिव्यक्त करता रहा है। इस प्रकार इन उद्धरणों में कवि का सर्ववादी दृष्टिकोण स्पष्ट है।

किन्तु जागतिक अथवा भौतिक नश्वरता को पंत जी ने शंकराचार्य द्वारा निरूपित 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त के रूप में नहीं स्वीकार किया। वे वास्तव में प्रकृति के अन्तर्गत ब्रह्म की सत्ता का अन्वेषण करते हैं—उसे प्राप्त करना चाहते हैं, जगत को असत्य बताकर केवल ब्रह्म को सत्य मानने के पक्ष में वे नहीं प्रतीत होते। वे जगत को बौद्धों के समान क्षणिक मानते हैं, मिथ्या नहीं। उनकी इस प्रकार की मान्यता पल्लव की अन्य रचनाओं के अध्ययन से भी स्पष्ट होती है। अस्तु, वीणा-ग्रन्थि तथा पल्लव-काल की रचनाओं का मूल स्वर मिथ्यात्ववादी न मानकर रहस्यवाद के अनुकूल सर्ववादी मानना चाहिए।

गुंजन (१९२५-३२)

'पल्लव' तक की रचनाओं में पंत के कवि का मन प्रकृति के वाह्य-सौन्दर्य-चित्रण तथा उसमें परिग्याप्त अनिर्वचनीय तथा अचिन्त्य-सत्ता के अन्वेषण में तत्पर रहा है। यद्यपि उसके इस अन्वेषण की परिसीमा जिज्ञासा तक ही रही है, उसमें साधना का गंभीर कर्म दृष्टि-

१—'परिवर्तन' शीर्षक रचना पृष्ठ ८७ (पल्लव, चतुर्थ वृत्ति, १९४२)

गोचर नहीं होता । उस काल तक उसका मन धरातल से ऊपर वायवी तत्वों के निरूपण में अधिक रमा है । प्रकृति की छवि का अंकन भी उसी चौहद्दी में हुआ है । किन्तु गुंजन भी रचनाएँ मानव की सुख-दुख पूर्ण अनेक विधि समस्याओं को प्रस्तुत करती हैं । वह उन समस्याओं का निदान भी अपनी सतत चिन्तन-साधना के फल के रूप में प्राप्त करता है । 'गुंजन' की 'संध्या-तारा' शीर्षक रचना की कुछ पंक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जायगी :—

वह रे अनन्त का मुक्त मीन अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन ।
निष्कंप शिखा-सा व निरुपम भेदता जगत् जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !

+ + +

जगमग-जगमग नभ का आंगन लद गया कुंद कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन ।^१

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि प्रकृति की सुषमा का वर्णन करते-करते मानव की हर्ष-विषाद से उद्भूत समस्याओं का आकलन करने लगता है और उससे सन्तुष्ट न होकर वह उसका निदान एक अव्यक्त सत्ता के रूप में जो निज स्वरूप में चिर नवीन होकर स्थित है—प्राप्त करना चाहता है ।

गुंजन की अन्य रचनाओं में भी उसका यह प्रयत्न देखा जा सकता है । इस प्रकार की रचनाओं के माध्यम से कवि का प्रयास एक अव्यक्त सर्व व्यापक सत्ता की टोह रहा है जिस तक पहुँच जाने पर कुछ करना शेष नहीं रह जाता और न कोई समस्या ही अवशिष्ट रह जाती है । मानव अमरत्व प्राप्त कर लेता है । प्रकृति की वाह्य सुषमा का अंकन

करते-करते कवि का का 'शाश्वतता' की ओर उन्मुख होना 'गुंजन' की 'नौका विहार' शीर्षक कविता में सर्वाधिक स्पष्ट हुआ है :—

इस धारा ही सा जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम ।

शाश्वत है गति, शाश्वत संगम !

मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का वह शाश्वत प्रयाण ।

करता मुझको अमरत्व दान ॥^१

उद्धृत पंक्तियों से ज्ञात होता है कि कवि की विचारधारा परिवर्तित हुई है और वह जीवन की शाश्वत समस्याओं का समाधान कर लेना चाहता है । जीवन की समस्याओं को चित्रित करने वाली 'गुंजन' में अनेक कविताएँ हैं । 'गुंजन' से ही कवि के मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रारम्भ मानना चाहिए । जीवन की सुख-दुःख की समस्या के आधार पर रची गयी कवि के 'गुंजन' की कुछ और पंक्तियाँ देखिए :—

यह जीवन का है सागर,

जग-जीवन का है सागर,

प्रिय प्रिय विषाद रे इसका,

प्रिय प्रि' आल्हाद रे इसका ।

जग जीवन में है सुख-दुख,

सुख-दुख में है जग जीवन,

हैं बँधे-विछोह-मिलन दो,

देकर चिर स्नेहालिंगन !

और इसीलिए—

जीवन की लहर-लहर से,

हँस खेल-खेल रे नाविक !

जीवन के अन्तस्तल में,
नित बूढ़ बूढ़ रे नाविक !^१

‘गुञ्जन’ में सुख-दुख द्वारा प्रादुर्भूत समस्याओं की अस्थिरता बतलाता हुआ एक स्थल पर कवि जीवन की चिरंतनता को इस प्रकार स्वीकार करता है :—

अस्थिर है जग का सुख—दुख,
जीवन ही नित्य चिरन्तन ।
मुख—दुख से ऊपर, मन का,
जीवन ही रे अवलम्बन ।^२

कवि जीवन की ही शाश्वता पर अपनी आस्था प्रकट करता है । सुख-दुख तो क्षणिक हैं, नश्वर हैं । कवि शाश्वत आनन्द पर विश्वास करता है और वह उसी का चिर अन्वेषक है । वह आनन्द उच्चादशों में अनुस्यूत है इसलिये वह उन उच्चादशों की प्राप्ति प्रयास में सतत व्याप्त है ।

मैं प्रेमी उच्चादशों का,
संस्कृति के स्वर्गिक-स्पर्शों का ।
जीवन के हर्ष विमर्शों का,
लगता अपूर्व मानव—जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन !
जग जीवन में उल्लास मुझे,
नव-आशा नव अभिलाष मुझे ।
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे,
चाहिये विश्व को नव जीवन ।^३

१-‘गुञ्जन’, पृष्ठ १८ (छठा संस्करण सं० २००८ वि०)

२-वही—पृष्ठ २६

३-वही—पृष्ठ २६

जीवन में उस चिर आनन्द की उपलब्धि उच्चादर्शों से ही प्राप्त हो सकती है। इतस्ततः भटकने से मानव जीवन अनेक उलझनों में फँस कर दुख का भागी बनेगा। कवि 'गुञ्जन' तक की रचनाओं में यही अभिप्रेत रहा है। वह नूतन आस-अभिलाष का काँक्षी है और उसे ईश्वर (सत्य अथवा आदर्श) पर पूर्ण विश्वास है। वह विश्व को नव जीवन प्राप्त कराने का काँक्षी है। कवि पन्त की 'गुञ्जन' तक की रचनाओं में विचार की यही श्रृंखला प्राप्त होती है। वास्तव में उनका सदा से ही यह अभिमत रहा है कि मानव की चरम उपलब्धि—मात्र भौतिकता में नहीं हो सकती। उन्होंने उसकी चरम उपलब्धि 'सर्वातिशयता' के रूप में स्वीकार की है। उनका कहना है कि मानव अपनी महान से महान भौतिक—कल्पना की उड़ान में सन्तोष नहीं पा सका। उसे अपनी इस प्रकार सभी उड़ानों में शाश्वत आनन्द तथा चिर शान्ति की टोह रही है। उसने सदा अमरत्व चाहा है। इसीलिए उसकी कल्पनायें सदा अलौकिक रही हैं और वह अद्भुत तथा विचित्र कल्पनालोकों में विचरता रहा है। उनके लिये उसके हृदय में सतत तड़फ रही है। पन्त जी की 'गुञ्जन' तक की रचनाओं की यही अवधारणा है।

ज्योत्स्ना

ज्योत्स्ना 'पन्त' जी का काव्य-संग्रह नहीं है वरन् वह एक प्रतीक नाटक है। किन्तु, काव्य के प्रसंग में इसकी चर्चा इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह उनकी विचार श्रृंखला की भूत तथा भविष्य की कड़ी जोड़ती है। इस नाटक में कवि पन्त की कोमल-कल्पना की सर्वातिशयता प्राप्त होती है। ज्योत्स्ना में कवि की विचारणा सुधारवादिता और समन्वय की ओर उन्मुख हुई है। उन्होंने अपनी अभीष्ट की सिद्धि के लिये प्रतीकों का आश्रय लिया है। पन्त जी का नाटक में प्रतीक-प्रयोग कोई नया आविष्कार नहीं है वरन् प्राचीन प्रतीक रम्परा के नाटकों में कृष्ण मिश्र का प्रतीक नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय

प्रसाद जी की 'कामना' और अन्य नाटक भी प्राप्त होते हैं। इस नाटक में पन्त जी का मुख्य उद्देश्य भौतिकता को आध्यात्मिकता से समन्वित करना रहा है। यह समन्वय उन्हें अन्तश्चेतना के माध्यम से सम्भव प्रतीत हुआ है और इसीलिए 'अन्तश्चेतना' (Intuition) के महत्त्व पर उन्होंने विशेष प्रकर्ष दिया है। उनके सुधारवादी दृष्टिकोण का एक उदाहरण ज्योत्स्ना के निम्न कथन में देखिये :—

“मर्त्यलोक से मानवी भावनायें धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्रेम—विश्वास, सत्य—न्याय, सहयोग—समत्व जो मनुष्य आत्मा के देव-भोजन हैं, एकदम दुर्लभ हो गए हैं। पशुबल घृणा, द्वेष, और अहंकार सर्वत्र आधिपत्य जमाये हैं। अन्ध विश्वासों की घोर अंध-निशा में चारों ओर जाति-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भाषा-भेद, देशाभिमान, वंशाभिमान, दानवों की तरह किमाकार रूप धारण कर, मानवता के जर्जर हृदय पर ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। विश्व का विशाल आंगन राष्ट्रवादों की व्योम चुम्बी भित्तियों से अनेक संकीर्ण काराओं में विभक्त हो गया है, जिनके शिखर पर दिन-रात विनाश के बादल मँडरा रहे हैं। अर्थ व शक्ति के लोभ में पड़ कर संसार की सभ्यता ने मनुष्य जाति के उन्मूलन के लिये संहार की इतनी सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी।”^१

संसार के प्रति अपने उपर्युक्त मत में वे अन्य सुधारकों के समान ही विचार प्रकट करते हैं। बात की पृष्ठभूमि तो प्राचीन ही है किन्तु, इससे कवि की ईमानदारी अवश्य प्रकट होती है। किन्तु संसार में यह विपर्यय मति क्यों है ? कवि इसके लिए आध्यात्मिक आस्था के अभाव को संकेत करता हुआ अग्रिम पंक्तियों में कहता है—

“मनुष्य जाति के भाग्य का रथ—चक्र जड़वाद के गहरे पंक में धँस गया है। शासक-शासित, धनी-निधन, शिक्षित—अशिक्षितों के

बीच बढ़ते हुए भेद-भावों की दुरन्त-खाई, मानव-सम्यता को निगल जाने के लिये मुँह बाए हुए है। मनुष्य के आत्म-ज्ञान का स्रोत अनेक प्रकार के भौतिक वाद-विवादों के मरु में लुप्त हो गया है।” १

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि कवि की यह दृढ़ मान्यता है कि जड़वाद अथवा भौतिकता को जीवन में प्राथमिक महत्व देने से मिथ्या बुद्धि अथवा बुद्धि की वृद्धि होती है और आस्था विश्वास का क्रमिक ह्रास होता जाता है। परिणाम यह होता है कि जीवन असन्तुलित होकर अनेक वर्गों में विभाजित हो जाता है जो जीवन को विषम बना कर दुर्वह बना देते हैं। यह विरोध और वैषम्य वर्गों में सामंजस्य करने से ही दूर हो सकता है। कवि ने यह बात ‘ज्योत्स्ना’ के मुख से इस प्रकार कहलवाई है :—

“मनुष्य जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गई है। इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पास में बांध कर, समस्त विभिन्नता को एक विश्व जनीन स्वरूप देकर नियन्त्रित करना होगा। अनियन्त्रित प्रकृति विकृत-मात्र है।” २

‘पंत’ जी ने इस रूपक के माध्यम में एक और विचार प्रकट किया है कि ज्ञान-विज्ञान मनुष्य को अभिवृद्ध तो करता है किन्तु वह उसे विकसित नहीं करता। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखना और उनका मूल्यांकन करना एक गलत सिद्धान्त है। उनके (आदर्शों) के प्रति निरपेक्ष दृष्टि ही उसकी आत्मा तक पहुँच कर उचित मूल्यांकन कर सकती है। वास्तव में यह धारणा ही मिथ्या है कि निरपेक्ष सत्य शून्य होता है। वास्तव में निरपेक्ष सत्य ही समग्र है और वही बस्तु का सही मूल्यांकन भी। ३

१—ज्योत्स्ना पृष्ठ २२

२—ज्योत्स्ना पृष्ठ ३६

३—ज्योत्स्ना पृष्ठ ४०

मानव जीवन के स्थाई मूल्यों (भावों) स्नेह, करुणा, ममता आदि से सभी को प्रेम है। संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसने क्रोध, घृणा, अमर्ष आसुरी वृत्तियों को अपने गले का हार बनाया हो। प्रत्येक व्यक्ति जिसके व्यक्तित्व में अवगुण व्याप्त हो गये हैं, इनको दूर करने तत्पर दिखाई पड़ता है। इन मानवता विरोधी अवगुणों का शमन तभी हो सकता है जब हम प्रेम के उदात्त भाव को व्यापक रूप में अपनावें। पंत जी ने अपने एतद् विषयक विचार 'ज्योत्स्ना' नाटक में 'कल्पना' के मुख से इस प्रकार कहलवाया है :—

“विगत युगों का मनुष्य मनस्तत्त्व की विवेचना में अधिक सफल नहीं हुआ, इसीलिये मनोजगत को अनिर्वचनीय, माया आदि अनेक नाम देकर, त्याग विराग की सहायता से अपने को भुलावे में डाल, उमने जीवन को अज्ञान जनित, दुःख जनित समझ लिया। और अपनी आत्मा के लिये एक काल्पनिक स्वर्ग का इन्द्रजाल निर्मित कर इस जन्म-मृत्यु, सुख-दुख के चिर आलिंगन पास में बँधी हुई जीवन की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पाने के लिए उसने अनेक छाया सत्यों पर अवलंबित एक मिथ्या प्रवचन का आश्रय ग्रहण किया।”^१

जिस प्रकार पंत जी आध्यात्मिक अतिवाद को मानवता की सुख शान्ति के लिए घातक तथा वर्जनीय मानते हैं उसी प्रकार वे भौतिक अतिवाद को भी उसके लिये श्रेयष्कर नहीं समझते। 'ज्योत्स्ना' में वे इस सम्बन्ध में इस प्रकार बिचार प्रकट करते हैं: “इस युग के मनुष्य का ध्यान भूत प्रकृति की ओर गया है। संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त हो कर, उसके दुखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है। जिसके लिए उसने भूत-विज्ञान की सृष्टि की है। वह देश-काल और भौतिक शक्तियों से संघर्ष कर रहा है। यह भूत प्रकृति ही उसके कष्टों

का कारण है या कुछ और भी, इसका ठीक-ठीक निर्णय वह नहीं कर पाया । मानव क्षेत्रों एवं विभागों को संगठित एवं सीमित कर अपने आन्तरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है ।”^१ ‘ज्योत्स्ना’ के उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से कवि की जिस विचारणा का शोध मिलता है वह है जीवन को समग्र बनाने के लिए भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय । बिना इसके जीवन में संतुलन नहीं आ सकता और संतुलन के अभाव में वह शान्ति से वंचित रहेगा, इसमें सन्देह नहीं ।

ऊपर के समग्र विवेचन से पंत का मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है । वे न तो जगत् को पूर्ण निषेधात्मक ही मानते हैं और न वे उसकी पूर्ण स्वीकृति में ही विश्वास करते हैं । उन्हें इस सुख-दुःखात्मक जगत से अत्यन्त अनुराग है और उन्हें उस पर निवास करने वाले सभी प्राणी भी अत्यन्त प्रिय हैं । एक स्थल पर ‘ज्योत्स्ना’ नाटक में उन्होंने ‘ज्योत्स्ना’ से कहलवाया है :-

“मोह को मिटाना ध्येय नहीं है, नाथ ? अनुरक्ति और मोह को पहचानना ही ध्येय है । . . . इस रूप और रङ्गों की सृष्टि से अधिक मनोहर मुझे कुछ नहीं लगता । जीवन शक्ति के समस्त दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, भावना, कल्पना एवं गुणों की अन्तिम और ठोस परिणति इसी नाम रूप के जगत् में है । यही साकार सत्य है ।”

निष्कर्ष

पंत जी के प्रारम्भिक काव्य के विवेचन द्वारा हम उनके विचारादर्शों के जिन निष्कर्षों में पहुँचते हैं उनकी तालिका निम्न स्तम्भों में बनाई जा सकती है:-

१-(अ) वीणा ग्रन्थ काल में वे ईश्वर पर विश्वास करने वाले पूर्ण आस्थावान भक्त प्रतीत होते हैं ।

(ब) सान्त से उठकर अनन्त की प्राप्ति की स्पृहा । इससे वे व्यष्टि भावना से अधिक समष्टि भावना पर प्रकर्ष देते हुए जान पड़ते हैं ।

२-पल्लव-गुञ्जन काल में कवि का विचार दर्शन उपनिषदों के अद्वैतवाद और बौद्धों के शून्यवाद तथा क्षणिकवाद पर अधिष्ठित रहा है । इन दोनों संग्रहों की अनेक रचनाओं में उनकी विचारणा रहस्यवाद की ओर अधिक झुकी हुई है और कवि प्रायः सर्ववादी हो गया है ।

‘गुञ्जन’ से कवि के मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रारम्भ मानना चाहिए । उसने अनेक रचनाओं में मानवता के सुख-दुःख हर्ष-गिषाद तथा शान्ति पर विचार किया है । किन्तु, उसका अभीष्ट इन द्वन्द्वों से मुक्ति पाने में रहा है । इस अभीष्ट की सिद्धि उसने एक सर्व-व्यापक सत्ता की प्राप्ति में की है अर्थात् वह अध्यात्म की चिर उपलब्धि में अमरत्व और शान्ति को मानता है ।

३-ज्योत्स्ना में कवि का मानवतावादी दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हुआ है । वह मानव की अनेक समस्याओं का समाधान करने में समग्र नाटक में सतत प्रयत्नशील रहा है उसने इन दुःख-सुखात्मक समस्याओं की उत्पत्ति आध्यात्मिकता और भौतिकता के अतिवादी दृष्टिकोण में मानी है । उसका मत है इनमें से किसी एक पर अधिक प्रकर्ष जीवन को एकाङ्गी बना देता है, जिससे वह असंतुलित होकर दुःखमय हो उठता है । दोनों की सम्यक् स्वीकृति में ही सुख-शान्ति प्राप्त हो सकते हैं । सारांश यह है कि वे अपनी प्रारम्भिक रचनाओं से ही मानव को आधार बना कर उसकी सुख शान्ति के निदान को ढूँढ़ने में तत्पर थे । इसमें संदेह नहीं कि उनकी विचारधारा ने अनेक परिधान बदले हैं किन्तु वे मूल से कभी इतस्ततः नहीं हुए ।

पन्त जी के मध्य-युगीन काव्य की विचारधारा

युगान्त—(१९३५-३६)

वीणा-ग्रन्थि, पल्लव-गुञ्जन और 'ज्योत्स्ना' की रचना के पश्चात् जहाँ कवि की रचनाओं का आरम्भिक युग समाप्त होता है वहीं उसकी विचारधारा का एक नूतन पृष्ठ मानवतावाद को लेकर खुलता है। डा० नगेन्द्र ने युगान्त की रचनाओं के विषय में ठीक ही लिखा है :—

“युगान्त की कवितायें चिन्तन प्रधान हैं। ३४-३५ में लिखी हुई सभी कविताओं में एक सूत्र गुंफित मिलेगा—एक अन्तर्धारा मिलेगी जो कवि के तत्कालिक विचारों और भावनाओं से सम्बन्ध रखती है। इन सभी में मानव जगत की मंगलाशा ओत-प्रोत हुई है। 'पल्लव' का करुणाक्लिष्ट भाव जो गुञ्जन में आकर समझौते का रूप धारण कर चुका था युगान्त में आकर पूर्णतया मांगलिक कामनाओं का वाहक बन गया है। इन कृतियों में कवि जगत् के जीर्ण उद्यान में मधु प्रभात लाने की शुभाकांक्षा बार-बार करता हुआ देखा जाता है। उसका करुणा तृप्त हृदय मानव हित से पूर्ण हो गया है वह मानवता के विकास द्वारा जीवन की पूर्णता स्थापित करने की शुभेक्षाओं से आकुल है।” १

कवि मानवता के विकास के लिये, मानव-मङ्गल के लिये किसी एक सिद्धान्त के कठघरे में अपने को बन्दी नहीं बनाना चाहता। यदि उपनिषदों के अद्वैतवाद से वह अपने को मानवता को त्राण देने में अक्षम पाता है तो उसे मार्क्स द्वारा प्रतिष्ठित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं यदि वह उसका मंगल कर सके, उसे शान्ति दे सके।

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद शोषित और शोषक तथा उत्तम और निम्न वर्गों के संघर्ष पर अधिष्ठित है वर्गों का अधिष्ठान आर्थिक वैषम्य है । मार्क्स का कहना है कि उत्पादन में यदि उत्पादक के साथ पूर्ण न्याय न किया गया तो धन एक स्थान पर एकत्र होकर अनेक वर्गों को जन्म देगा, इनके फलस्वरूप समाज में अनेक विध विषमताएं उत्पन्न होंगी । मार्क्स का आर्थिक विकास का सिद्धान्त संकुचित वृत्त के अन्तर्गत नहीं गृहीत किया जाना चाहिए । मार्क्स का सिद्धान्त अर्थ के आधार पर सामाजिक तथा धार्मिक सिद्धांतों की उत्पत्ति भी स्वीकार करता है ।^१ पंत जी के मध्य युगीन काव्य पर मार्क्स की विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

हम युगान्त और उसके पश्चात् की रचनाओं—युग वाणी और ग्राम्या में मार्क्सवादी रचनाएं पाते हैं । यद्यपि वे मार्क्सवाद को उसके संकुचित-वृत्त में नहीं स्वीकार करते । वे समता के समर्थक हैं किन्तु अपने ढंग से । क्योंकि अगर ऐसा होता तो वे ज्योत्स्ना में मार्क्सवाद द्वारा स्वीकृत हिंसा सिद्धान्त तथा वर्गवाद को स्वीकार करते, जब कि उन्होंने इनका पूर्ण खण्डन किया है । निश्चय ही वे जातिवाद, वर्ण और वर्ग के विरोधी हैं । वे मानव कल्याण के मार्ग में अन्धविश्वास बाधक मानते हैं । इसीलिए युगान्त में गा उठे हैं :—

निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग ।

जग नीड़ शब्द औ श्वासहीन ;

च्युत, अस्त व्यस्त पंखों से तुम

झर-झर अनन्त में हो विलीन !

जीर्ण—पत्रों के नष्ट हो जाने से क्या होगा । कवि ने अग्रिम पंक्तियों में उसकी संभावना व्यक्त की है :—

कंकाल—जाल जग में फैले,
 फिर नवल रुधिर, पल्लववाली !
 प्राणों की मर्मर से मुखरित
 जीवन की मांसल हरियाली !

मंजरित विश्व में यौवन के
 जग कर जग की पिक-मतवाली
 निज अमर प्रणय-स्वर मदिरा से
 भर दे फिर नवयुग की प्याली !

उपयुक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि जीर्ण पुरातन के स्थान पर नव्य विचार-भावना तथा हर्ष-उल्लास वाले जगत का आकांक्षी है। वह प्राचीन अनुपयुक्त विचारधारा के स्थान पर विचारोत्तेजक तथा भावोन्मेषक विचारों के प्रतिष्ठापन का समर्थक है। क्योंकि प्राचीन मान्यताओं द्वारा आधुनिक युग की नवीन समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं। जाति-पाँति, कुल-वर्ण की प्राचीन मान्यताएं जड़ हो गई हैं। उनमें वह लचीलापन नहीं रहा जो मानव के विकास का संबल बन सके। अतएव उसके नष्ट हो जाने में ही मानवता का कल्याण है। कवि ने इस सम्बन्ध में अपने विचार निम्न पंक्तियों में व्यक्त किए हैं—

झरे जाति-कुल-वर्ण-पर्ण धन,
 अंध-नीड़-से रूढ़ि रीति छन,
 व्यक्ति-राष्ट्र-गत राग-द्वेष रण,
 झरें मरे विस्मृति में तत्क्षण !^५

और वह कवि कोकिल को सम्बोधित करता हुआ अग्रिम पंक्तियों में कहता है कि इनके नाश में तुझे चिन्ता नहीं होनी चाहिए क्योंकि इनके स्थान पर जो नवलता और स्नेह आवेंगे वे अत्यधिक महिम होंगे—

गा कोकिल, गा कर मत चिन्तन !
 नवल रुधिर से भर पल्लव-तन,
 नवल स्नेह—सौरभ से यौवन,
 कर मंजरित नव जग जीवन,
 गूँज उठे पी—पी मधु सब जन !

अगली पंक्तियों में उनका मानवतावादी दृष्टिकोण और अधिक स्पष्ट हुआ है :—

रच मानव के हित नूतन मन,
 वाणी, वेश, भाव नव शोभन,
 स्नेह, सुहृदता हो मानस-धन,
 करें मनुज नव जीवन यापन ।”¹

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि प्राचीन के स्थान पर नूतन की प्रतिष्ठा करने के लिए आतुर है। नूतनता लाने के लिए उसका अहिंसक मन हिंसा का सहारा भी लेने में नहीं हिचकता। किन्तु, अन्ततोगत्वा वह मंगल का ही कांक्षी है। वास्तव में पंत जी के समक्ष यह सत्य व्यभिष्टि नहीं है कि उपकरण अथवा साधन साध्य नहीं बन सकते। वे जानते हैं कि ध्वंस या विनाश का उद्देश्य निर्माण ही है। अस्तु, वे सड़े-गले पुरातन के इसलिए विरोधी हैं क्योंकि उससे मानवता का कोई हित संभव नहीं। इसीलिए उन्होंने कोकिल अथवा कवि रूपी कोकिल से ‘पावक-कण’ बरसाने की जहाँ एक ओर कामना की है, वहीं वे मानव और मानवता को विस्मृत नहीं कर सके। क्योंकि मानव कोई साधारण जीवधारी नहीं है। वह तो ‘चिरंतन ‘स्फुलिग’ है। वे इसी रचना के अन्तिम चरण में इस सम्बन्ध में इस प्रकार अपने विचार प्रकट करते हैं :—

गा कोकिल, संदेश सनातन !

मानव दिव्य स्फुलिग चिरंतन,

वह न देह का नश्वर रजकण !

देश काल है उसे न बंधन !

मानव का परिचय मानवपन !

वे प्राचीन भारतीय विचारकों के समान ही मानव को दिव्य प्राणी के रूप में ही स्वीकार करते हैं, कदाचित् सृष्टि के चरम भौतिक विकास के रूप में भी। गोस्वामी तुलसीदास ने भी मानव को सभी प्राणियों से अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। वे मानव शरीर को देवताओं के लिए भी दुर्लभ वस्तु मानते हैं, क्योंकि अन्य योनियाँ तो भोग योनियाँ हैं। केवल मनुष्य योनि ही कर्म योनि है और इसी के माध्यम से समग्र साधनायेँ सम्पन्न होती हैं। अभ्युदय और निःश्रेयस की सभी उपलब्धियाँ मानव शरीर से ही संभव है।^१ पंत जी ने भी गोस्वामी तुलसीदास की तरह मानव शरीर के गुणगान करते हुए नहीं अघाते। वे भी उसे ईश्वर की सर्व शक्तिमान शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए उसे मात्र 'नश्वर' मृतिका कण के रूप में नहीं स्वीकार करते और न उसके लिए किसी प्रकार का बन्धन ही मानते हैं। वह चिर स्वतन्त्र है। उसे देश, काल, वर्ण आदि का कोई बन्धन नहीं बाँध सकता। पंत जी इसीलिए मानवता के द्वारा मानव का परिचय देते हैं।

प्राचीन युग की परिसमाप्ति के चिन्ह एक दृष्टा कवि के रूप में पंत जी ने पहले ही देख लिए थे। इसीलिए वे कहते हैं, "युगान्त में निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है। जिन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर यह कहा था उसका आभास, 'ज्योत्सना' में पहिले ही हो चुका था।" वास्तव में

१—प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो ।

साधन धाम विबुध दुर्लभ तन, ताहि कृपा करि दीन्यो ॥

(विनय पत्रिका)

कवि ने जिस युग के अन्त की भूमिका का परिचय 'ज्योत्सना' में पाया था, वह था सामन्तवादी और पूँजीवादी युग, इन्हीं का अन्त है 'युगान्त'। मध्ययुगीन पूँजीवाद तथा सामन्तवादी विकृतियों को कवि ने मानवता के विकास-मार्ग में अवरोध रूप में पाया। वह इन विकृतियों के अनेक विध-रूपों से जो संस्कृति-व्यामोह उत्पन्न करते थे तिल-मिला उठा और इनके विरोध में कह उठा :—

शत मिथ्या वाद-विवाद तर्क,
शत रूढ़ि नीति शत धर्म द्वार,
शिक्षा, संस्कृति, संस्था समाज,
वह पशु मानव का अहंकार ।^१

कवि ने देखा कि मानव का यह अहंकार जो गतयुग की विकृतियों से संभूत है, वास्तव में विकास का प्रगतिशील चरण नहीं है वरन् यह तो उसे पतन की ओर घसीटने वाला है, उसे पशु बनाने वाला है तो वह युगदृष्टा की पीड़ा लिए हुए कराह उठा। और उसका स्वर एक जागरूक और ईमानदार प्रहरी के समान 'बापू के प्रति' शीर्षक रचना की इन पंक्तियों में फूट पड़ा :—

जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर,
चेतना, अहिंसा, नम्र ओज,
पशुता का पंकज बना दिया,
तुमने मानवता का सरोज !
पशुबल की कारा से जग को,
दिखलाई आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष, घृणा से लड़ने को,
सिखलाई दुर्जय प्रेम युक्ति,

वर श्रम-प्रसूति से की कृतार्थ,
तुमने विचार परिणीत उक्ति,
विश्वानुरक्त है अनासक्त,
सर्वस्व त्याग को बना भुक्ति !^१

कवि ने महात्मा गाँधी में उस प्रतीक-युग पुरुष के दर्शन किए, जो आगत युग का प्रतिनिधि हो सकता है और जिसके संस्पर्श द्वारा विगत सामन्त युगीन विकृतियाँ नष्ट हो सकती हैं और हुई हैं। क्योंकि बिना इन विकृतियों के नष्ट हुए नूतन युग का आगमन नहीं हो सकता, जिसका आभास उसे सर्वप्रथम हुआ है और जिसकी महिमा सुषमा का वह प्रथम गायक है :—

। सुन्दरता का आलोक स्रोत
है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव जीवन का प्रभात,
होगा फिर जग के आँगन में !

+ + + +

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे,
मिल सका नहीं जग में बाहर !^२

और उसने 'सौन्दर्य' 'स्नेह' तथा 'उल्लास' से आपूर्यमाण आगत युग का स्वप्न क्यों देखा है ? क्योंकि मानव ही जैसा कि ऊपर कहा गया है; सृष्टि का चरम विकास है, सबसे सुन्दर है। पंत जी ने लिखा है :—

१—युगान्त पृष्ठ ५८

२—वही पृष्ठ ३४-३५

सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर,
 मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम्,
 निर्मित सबकी तिल सुषमा से,
 तुम निखिल सृष्टि में चिर निरूपम !
 यौवन ज्वाला से वेष्टित तन,
 मृदु त्वच सौन्दर्य-प्ररोह अंग,
 न्योछावर जिन पर निखिल प्रकृति,
 छाया प्रकाश के रूप-रंग ।^१

और इसी मानव की सुख-सुविधा को कवि ने 'युगान्त' में अपना विषय बनाया है 'युगान्त' में कवि का मन वायवीय परिकल्पनाओं से धरती पर उतरा है और उसके दृष्टिकोण में मांसलता आई है। वह सौन्दर्य को मानव और मानवता के परिप्रेक्ष्य में देखने लगा है। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है :—

“गुंजन में जो कला तितली के पंख छोड़कर उड़ी थी वह युगान्त में आकर मांसल हो गई है। उसके लघु-लघु गात अब पृथु हो गए हैं . . . । भाषा में ज्योत्स्ना के गीतों की रुझान नहीं है। उसमें है एक सबल ओज ।”^२

युगवाणी (१९३६-३९)

‘युगान्त के विवेचन से स्पष्ट है कि कवि की कल्पना उसकी (युगान्त) कविताओं में मूर्त होते लगी थी। उसमें मांसलता आने लगी थी। युगवाणी की रचनाओं में उसमें और निखार आया, विचार और अधिक स्पष्ट हुए। कवि ने ‘युगवाणी’ के विज्ञापन में स्वीकार किया है। ‘जिनमें (युगवाणी की रचनाओं में) मैंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है। यदि युग की मनोवृत्ति का किञ्चिन्मात्र आभास

१—युगान्त, पृष्ठ ५०

२—सुमित्रानन्दन पन्त, डा० नगेन्द्र पृष्ठ १२९

इसमें मिल सका तो अपने प्रयास को विफल नहीं समझूंगा। 'गद्य' शब्द के प्रयोग से कवि ने अपनी रचनाओं में विचारों की प्रधानता स्वीकार की है और साथ ही 'युग की मनोवृत्ति का चित्रण जहाँ एक ओर बहिर्संघर्ष की व्याख्या करने की ओर संकेत करता है वहीं उस समय की राजनीतिक विचार-धारा को रूपायित करने की चेष्टा का भी द्योतन करता है। पंत जी ने 'युग वाणी' के दृष्टि-पात में स्वयं ही अपनी 'विचार-धारा' की ओर निम्नलिखित ढंग से अपने विचार प्रकट किए हैं :—

“युगवाणी में प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, जो मेरी अन्य प्राकृतिक रचनाओं की तुलना में विशेषता रखती हैं- मुख्यतः पाँच प्रकार की विचार-धारायें मिलती हैं :

(१) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।

(२) समाज में प्रचलित जीवन मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह।

(३) पिछले युगों के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ि रीतियों की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास में बाधक बन रही है।

(४) मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणि-शास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचार-धारा पर प्रभाव : जन समाज का पुनः संगठन एवं दलित लोक समुदाय का जीर्णोद्धार।

(५) बहिर्जीवन के साथ अन्तर्जीवन के संगठन की आवश्यकता राग भावना का विकास तथा नारी जागरण ।^१ कवि की उपर्युक्त विचार-सरणि से यह प्रतीत होता है कि उसका मन अनेक विचारधाराओं से (जो उस काल के युग में उपस्थित थीं) अत्यधिक

ऊहा-पोह में पड़ गया था। उसका वह अन्तर्मथन चाहे जितना वैविध्यपूर्ण क्यों न रहा हो एक ही आधार पर अधिष्ठित था और वह आधार था 'मानव'। क्यों कि कवि ने 'युगान्त' और 'युगान्तर' की ही रचनाओं से अपनी वायवीय रचनाओं में परिवर्तन का परिचय दिया था। कवि को अब विश्वास हो चला था कि प्राचीन मान्यताओं और आदर्शों के आधार पर नव संस्कृति का निर्माण असंभव है। इसीलिए वह उनके नष्ट होने में ही मानवता और संस्कृति का श्रेय समझता है। एकांगी दर्शनों से चाहे वे भौतिकवाद के समर्थक हों और चाहे अध्यात्मवाद के परिपोषक मानवता का कल्याण नहीं हो सकता—नहीं हुआ है और न उनके ऊपर भावी संस्कृति की नींव डाली जा सकती है। 'युगवाणी' की कुन्जी के रूप में 'बापू' शीर्षक अपनी पहली कविता की निम्न पंक्तियों को, जिनमें उसने भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय में संस्कृति की पूर्ण परिभाषा देखी है, कवि ने स्वीकार किया है :—

“भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिये मात्र सोपान।

जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान।

इन पंक्तियों से यह प्रकट होता है कि कवि की विचार-धुरी 'मानव' और मानव-संस्कृति रही है। वह इसकी समग्रता के लिये भौतिकता और अध्यात्म दोनों को स्वीकार करता है। भौतिकता को साधन के रूप में और आध्यात्मिकता अथवा आत्म-दर्शन को साध्य के रूप में। कवि ने 'बापू' में उस पूर्ण संस्कृति के दर्शन के लिए है, उन्हें ही उसने संस्कृति का दूत कहा है। इसलिए उसने उन्हें संबोधित करते हुये कहा है :

“बापू ! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान

हंस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण।

भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिये मात्र सोपान ,

जहाँ आत्म दर्शन अनादि से समासीन अम्लान।

नहीं जनता, युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय,
पर, मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय,
नव संस्कृति के दूत ! देवताओं का करने कार्य
मानव आत्मा को उबारने आए तुम अनिवार्य । १

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि कवि को परिवर्तन तो अभीष्ट है । इस परिवर्तन की चेष्टा में हो सकता है अमित 'जन क्षय' हो ; किन्तु वह उस हिंसा को इष्ट मानने को प्रस्तुत नहीं । वह मानव के लिए सत्य और अहिंसा को ही अभीष्ट मानता है । उनकी यह समन्वयात्मक दृष्टि 'युगवाणी' की निम्न पंक्तियों में भी दृष्टि गोचर होती है :

आत्मा ही बनजाय देह नव,
ज्ञान ज्योति ही विश्व स्नेह नव,
हास , अश्रु , आशाऽकांक्षा
बन जाये खाद्य , मधु पानी
युग की वाणी १

स्पष्टतः छायावादी परिवेश में लिखी गई पंत जी की रचनाओं से इन रचनाओं (युगवाणी, ग्राम्या काल की रचनाओं में) विचार परिवर्तन दृष्टि गोचर होता है । वीणा—पल्लव काल की रचनाओं में कवि का ध्यान सामूहिक अभ्युदय की ओर नहीं गया था । उस समय तक वह हास, आश, आकांक्षा आदि को पानी के रूप में नहीं देख पाया था । उसमें विचार का अभाव होने के कारण मनोहर संगीत के ही मुख्यतया दर्शन होते हैं । किन्तु, युगवाणी और मुख्यतया युगवाणी की उत्तरकालीन रचनाओं में कवि में विचार प्रधान होगया है और वह मानव जीवन तथा मानव संस्कृति के विषय में मात्र सोचता ही नहीं वरन् उसके विषय में उसके विचार भी स्पष्ट होने लगे हैं :

१—युगवाणी , पृष्ठ १६ (चतुर्थ संस्करण, १९५६ ।

२— " " २० " "

भाव कर्म में जहाँ साम्य हो सन्तत ।

जग जीवन में हों विचार जनके रत ॥

ज्ञान वृद्ध, निष्क्रिय न जहाँ मानव मन ।

मृत आदर्श न बंधन सक्रिय जीवन । १

कवि 'नव संस्कृति' के लिए भाव—कर्म में समन्वय का कांक्षी है । जग जीवन की सफलता के लिए वह उसमें व्यक्ति के लिए विचार चाहता है । वह ऐसी संस्कृति की अभिलाषा करता है जहाँ 'मानव मन' निष्क्रिय न हो और मृत संस्कार जिसे बाधित न करते हों । जीवन में सक्रियता हो ।

युगवाणी में कवि ने उस अध्यात्मवादिता की भी निन्दा की है, जो मानव को निष्क्रिय बनाती है और कल्पना लोक में ही विचारने की प्रेरणा देती है, साथ ही भू-जीवन के संघर्षों से पलायन करने के लिए बाध्य करती है :

“ताक रहे हो गगन ?

मृत्यु नीलिमा गगन ?

अनिमेष अचितवन, काल नयन ?

विःस्पन्द, शून्य, निर्जन, निःस्वन ?

देखो भू को ।

जीव प्रसू को ॥’^१

किन्तु, साथ ही कवि इस बात को भी नहीं चाहता कि मानव—मन मात्र—भौतिक जीवन को ही प्रकर्ष दे । क्योंकि इससे तो वह एकांगी होकर बिखर जायगा । अस्तु वह मात्र—वाह्य साम्प्रवाद का खण्डन करता हुआ कहता है :—

वाह्य नहीं, आन्तरिक साम्य

जीवों से मानव को प्रकाम्य !

मानव को आदर्श चाहिए,
संस्कृति, आत्मोर्कष चाहिए,
वाह्य विधान उसे है बन्धन,
यदि न साम्य उनमें अन्तरतम—”^१

वास्तव में अन्तर्वाह्य का बिना समन्वय हुए आत्मोर्कष असंभव है। उपर्युक्त समन्वयवादी विचारधारा के अतिरिक्त ‘युगवाणी’ में मार्क्सवादी प्रभाव के कारण कवि का प्रगतिवादी दृष्टिकोण भी प्रकट हुआ है। एतद्विषयक, युगवाणी में संग्रहीत ‘दो लड़के’, ‘धनपति’, ‘कृषक’, ‘श्रमजीवी’, ‘नारी’, ‘दो मित्र’, ‘युग-नृत्य’ शीर्षक रचनाएँ देखी जा सकती हैं। उनकी इस विचार-धारा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

लोक क्रांति का अग्रदूत, वरवीर जनादूत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित !
चिर पवित्र वह, भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी,—पावन श्रम से प्रक्षालित !^२

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने ‘वीणा-ग्रन्थि-पल्लव-गुंजन’ काल की छायावादी मार्दवता से भिन्न ठोस तथा कठोर जीवन की ओर दृष्टिपात किया है। इन पंक्तियों में उसने श्रमजीवी के विभिन्न जीवन की ओर संकेत किया है, वह श्रमजीवी जो जीवन का शिल्पी है, जो क्रान्ति का अग्रदूत है तथा नूतन सभ्यता का उन्नायक है, किन्तु शासकों की कठोर यंत्रणाएँ सहता है और जिसका पालन भय अन्याय और घृणा के द्वारा किया गया है।

कृषक, जो कि सबका अन्नदाता है उसकी कितनी विषम स्थिति

१—युगवाणी पृष्ठ २६ (चतुर्थ संस्करण १९५६)

२— ” ” ५२ (” ”)

है, निम्न पंक्तियों में देखिए—

“युग युग का वह भारवाह, आकटि नत मस्तक,
निखिल सम्य संसार पीठ का उसके स्फोटक !
वज्र मूठ, जड़भूत, हठी, वृष बांधव कर्षक,
ध्रुव ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक !
कर जर्जर, ऋण ग्रस्त, स्वल्प पैत्रिक स्मृति भू-धन,
निखिल दैन्य-दुर्भाग्य, दुरित, दुख का जो कारण;
हर्ष शोक की स्मृति के बीते जहां वर्ष क्षण !”^१

मध्ययुग में जो नारी के प्रति मानव का दृष्टिकोण रहा है उससे कवि का मन संतप्त हो उठा है। प्राचीन युग में नारी किस प्रकार समाज में समादृत थी इसका प्रमाण मनुस्मृति की इस पंक्ति से प्रकट होता है ‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः ।’^२ किन्तु, धीरे-धीरे इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आता गया और अन्ततः मानव ने उसे आत्माविहीन मात्र देह के रूप में देखा उसकी दृष्टि नारी के प्रति प्रेम-परक न होकर भोग-परक हो गई। मध्य-युगीन हिन्दी काव्य में नारी विषयक विचारणा इतनी स्थूल और भोग-परक रही है कि विश्वास नहीं होता कि सौन्दर्य-व्याख्या का इतना बीभत्स रूप और भोग-वृत्ति का इतना विकृत रूप अन्यत्र कहां मिल सकता है। कवि पंत ने कदाचित् उसके प्रति इसी दृष्टिकोण का उल्लेख इन पंक्तियों में किया है :—

योनि मात्र रह गई मानवी
निज आत्मा कर अर्पण,
पुरुष प्रकृति की पशुता का
पहने नैतिक आभूषण ।
नष्ट होगई उसकी आत्मा,
त्वचा रह गई पावन,

युग युग से अवगुंठित गृहिणी,
सहती पशु के बंधन ! १

और इसीलिए कवि ने मानव से उसे अपने दासता-पाश से मुक्त करने की अपील की है :—

“खोलो हे मेखला युगों की
कटि-प्रदेश से तन से !
अमर प्रेम हो बन्धन उसका,
वह पवित्र हो मन से !
अंगों की अविकच इच्छाएँ
रहें न जीवन पातक,
वे विकास में बनें सहायक
होवें प्रेम प्रकाशक ! २

किन्तु, ऐसा लगता है कि कवि का मन इस काल में मार्क्स और गाँधी को लेकर बड़े असमंजस में पड़ गया है। उसके मन का यह संघर्ष कवि का ‘साक्स’ और ‘गाँधी’ के प्रति लिखी हुई इन पंक्तियों में बिल्कुल स्पष्ट है—

‘दिग दिगन्त में व्याप्त, निखिल युग का चिर गौरव हर ।

जन संस्कृति का नव विराट, प्रासाद उठेगा भू पर ।

धन्य मार्क्स ! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर ।

तुम त्रि-नेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर ॥^३

उपर्युक्त पंक्तियों में जहाँ उसने मार्क्स के प्रति अपना समादर प्रकट किया है वहीं उसे ‘भूत-दर्शन की जानकारी भी है और उसके प्रति आस्था भी। किन्तु अपनी प्राचीन मान्यता के कारण उसको वह

१—युगवाणी पृष्ठ ६४ (चतुर्थ संस्करण, १९४९)

२— “ ” ६५ “ ” ”

३— “ ” ४४ “ ” ”

गांधीवाद के साथ ही संयुक्त कराने में हित समझता है :—

“गांधीवाद हमें देता, जीवन पर अन्तर्गत विश्वास ।

मानव की निःसीम शक्ति का मिलता उससे चिर आभास ।

मनुष्यत्व का तत्व सिखाता, निश्चय हमको गांधीवाद ।

सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद ॥^१

अस्तु, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि ‘युगवाणी’ के अन्तर्गत श्री पंत के कवि का मन वायवीय क्षितिज से उतर कर भूतल पर आया है और वह भू जीवन और मानव की समस्याओं के विषय में सोचता ही नहीं वरन् उनका समाधान भी प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है । वह इस काल में दो महापुरुषों के विचारों से प्रभावित है, एक तो कार्ल मार्क्स के तथा दूसरे महात्मा गांधी के । किन्तु वह किसी एक के विचारों को मानवता के लिए हितकर नहीं समझता, वरन् मार्क्स के ‘भूत-दर्शन’ और गांधी जी के अध्यात्म-दर्शन के समन्वय में ही नव संस्कृति के निर्माण की कामना करता है । उसके विचारों में भौतिकता और आध्यात्मिकता को लेकर पर्याप्त संघर्ष रहा है और कदाचित् वह इनमें से किसी एक की महत्ता नहीं स्वीकार कर सका, इसलिए उनके समन्वय का समर्थक हो गया है ।

ग्राम्या (१९३९-४०)

“युगवाणी” के पश्चात् ‘पंत’ की ग्राम्या प्रकाशित हुई । इस संग्रह में सन् १९३९-४० में उनकी लिखी हुई ५३ कविताएँ संग्रहीत हैं । इन रचनाओं में ‘युगवाणी’ की स्थूल विचारधारा में और अधिक स्पष्टता आई है । कहना तो यह चाहिए कि कवि के समाज सापेक्ष चिन्तन का ‘ग्राम्या’ की रचनाओं में चरम विकास प्राप्त होता है । इनमें कवि ने ग्राम्य जीवन सम्बन्धी अनेक प्रयोग किए हैं ‘ग्राम्या’ की व्याख्या

करता हुआ कवि स्वयं कहता है—

“है मांस-पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता
संयोग अवयवों में, अवशलथ उसके उरोज ।
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज ।”^१

इन पंक्तियों से यह सिद्ध होता है कि कवि का मन रूप और प्रकृति के वायवीय सुन्दर-बिंबों के चित्रण से विरक्त होकर यथार्थ की ठोस भूमि पर आ ही नहीं गया है, वरन् वह उसके पुष्ट-चित्र भी चित्रित करने लगा है। किन्तु, कवि ने इन रचनाओं में ग्रामीणों के प्रति मात्र बौद्धिक सहानुभूति ही दी है, वह उनके साथ घुलमिल नहीं सका। जैसा कि उसने स्वयं ‘ग्राम्या’ के ‘निवेदन’ में स्वीकार किया है “इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम जीवन में मिल कर, उसके भीतर से, ये अवश्य नहीं लिखी गई है।” वे इसका कारण बतलाते हुए अग्रिम पंक्ति में कहते हैं, “ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रिया-त्मक साहित्य को जन्म देना होता।” पंत जी के ‘निवेदन’ से यह स्पष्ट है कि उन्होंने बौद्धिक धरातल पर ही ग्रामों का पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया है और ऐसा करने में उनका प्रच्छन्न मत यह प्रतीत होता है कि वे उनका आदर्श रूप ही प्रस्तुत करेंगे। अपने इस मत के कारण वे साहित्य में श्रेय की ही प्रतिष्ठा के समर्थक प्रतीत होते हैं। वे यथार्थ को भी आदर्श के अनुबन्ध में स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। किन्तु काव्य-कला की दृष्टि से ‘ग्राम्या’ की रचनाएँ किसी प्रकार घटतर नहीं हैं। खण्डवा से प्रकाशित ‘कर्मवीर’ ने ‘ग्राम्या’ की कला पर विचार करते हुए ठीक ही कहा है :—

“ग्राम्या पके हुए धान के लहलहे खेत के समान है। उसमें

प्रकार की रचनायें वस्तुतः उसके वीणा ग्रंथि और 'पल्लव' आदि के कल्पना तथा सौन्दर्यवादी दृष्टि कोण के परिवर्तन की सूचना देती हैं। अपने इस परिवर्तित दृष्टि-कोण की सूचना कवि ने 'आधुनिक कवि पंत' की भूमिका में इस प्रकार दी है :

“कितनी चिड़िया उड़े अकाश, दाना है धरती के पास' वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उतरने से कल्पना के लिए जीवन के सत्य का दाना सुलभ और साकार हो जाता है, और कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, कला कौशल, समाजशास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म, दर्शन के रूप में खण्ड-खण्ड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है”। आधुनिक कवि 'पंत' के उपर्युक्त उद्धाहरण में कवि ने परिवर्तन के महत्व को स्वीकार किया है। क्योंकि बिना परिवर्तन के जीवन में ताजगी का एकान्त अभाव हो जाता है तथा उसमें सड़ांध आजाती है और वह मरणोन्मुख हो उठता है। यही बात संस्कृति के विषय में भी कही जा सकती है। यदि समयानुकूल सांस्कृतिक नियमों—उपनियमों, सिद्धान्तों—उपसिद्धान्तों में परिवर्तन—विवर्तन न किए गए तो उसमें कठोरता (stiffness) आजाती है और कालान्तर में वह नष्ट हो जाती है। ग्रीक, मिस्र और रोम की सभ्यता को उदाहरण के लिए रक्खा जा सकता है। कविता के लिए भी यही बात कही जा सकती है। वही काव्य और वही कवि अमर रहेगा जो देश-कालानुसार अपने विचारों और काव्य-दृष्टि (Poetic vision) में परिवर्तन करता है। कवि की 'ग्राम्या' की रचनाओं में भी इसी कारण उसकी प्रारंभिक रचनाओं का मार्दव, स्निग्धता, सौन्दर्य दृष्टि और वायवीय चित्रणों का अभाव प्राप्त होता है। क्योंकि पंत जी के मतानुसार, “भविष्य के साहित्यिक को इस युग के वाद-विवादों, अर्थशास्त्र और राजनीतिक मतान्तरों द्वारा, इस संधिकाल की घृणा, द्वेष, कलह के वातावरण में भीतर से, अपने को वाणी नहीं

देनी पड़ेगी । उसके सामने आज के तक—संघर्ष, ज्ञान—विज्ञान, तर्क कल्पना—सब धुल-मिल कर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप में वास्तविक एवं साकार हो जायेंगे । वर्तमान युद्ध और रक्त पात के उस पार वह एक नवीन, प्रबुद्ध, विकसित और हंसती बोलती हुई, विश्व निर्माण में निरत, मानवता में अपनी स्रजन—सामग्री ग्रहण कर सकेगा । इस परिवर्तन काल के विक्षब्ध लेखक की अत्यंत और अपार कठिनाइयाँ हैं ।”¹ कवि ने अपनी इस विचारधारा का साकार रूप ‘ग्राम्या’ की रचनाओं में देखना चाहा है । वह किस प्रकार के समाज की प्रतिष्ठा करना चाहता है, ‘ग्राम्या’ की रचनाओं में उसकी व्याख्या की गई है ।

‘पंत’ जी ने सामन्तयुगीन संस्कृति के विनाश के पश्चात् साम्यवाद की प्रतिष्ठा को एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में ग्राम्या के अन्तर्गत स्वीकार किया है । कवि ने अपने एतद्विषयक विचार इन पंक्तियों में बड़ी स्पष्टता के साथ प्रकट किए हैं : —

‘श्री राम रहे सामन्त काल के ध्रुव प्रकाश ।
पशु—जीवी युग में नव—कृषि संस्कृति के विकास ॥
कर सके नहीं वे मध्य युगों का तम—विनाश ।
बन रहें सनातनता के तब से क्रीत दास ॥
पशु युग में थे गण देवों के पूजित पशुपति ।
थी रुद्र चरों से कुंठित कृषि युग की उन्नति ॥
श्री राम रुद्र की शिव में कर जनहित—परिणति ।
जीवित कर गये अहिल्या को, थे सीतापति ॥
बाल्मीकि बाद आए श्री व्यास जगत वन्दित ।
वह कृषि संस्कृति का चरमोन्नति युग था निश्चित ॥
वन गए राम तब कृष्ण, भेद मात्रा का मित ।
वैभव यग की बंशी से कर जन मन मोहित ॥

तुलसी ने कृषि मन युग अनुरूप किया निर्मित ।

गत संस्कृतियां थी विकसित, वर्ग व्यक्ति आश्रित ।

सामन्त मान अब व्यर्थ—समृद्ध विश्व—अतिशय । ^१

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि ने प्राचीन इतिहास के आधार पर भौतिकता के विवेचन की चेष्टा की है । सामन्त युग के पश्चात् साम्यवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा की स्वीकृति निम्न पंक्तियों में और भी स्पष्ट है :

“आज मिट गए दैन्य दुःख, सब क्षुधा-तृषा के ऋदन ।

भावी स्वप्नों के पट पर, युग जीव न करता नर्तन ।:

डूब गए सब तर्क वाद, सब देशों राष्ट्रों के कण ।

डूब गया रव घोर क्रान्ति का, शान्त विश्व संघर्ष ॥

ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे, मुक्त दिशा औ, क्षण ।

जीवन की क्षुद्रता निखिल, मिट गई मनुज जीवन से । ^२

उपर्युक्त पंक्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि कवि ने अपने को कोमल कल्पना की सुन्दर गुहा से निकाल कर यथार्थ की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है और इसीलिए वह जनवादी शक्तियों का पूर्ण विकास चाहता है :

आज युग का गुण है—जन रूप,

रूप जन संस्कृति के आधार ।

स्थूल, जन आदर्शों की सृष्टि,

कर रही नव संस्कृति निर्माण ।

स्थूल युग का शिव, सुन्दर, सत्य,

स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन प्राण । ^३

१—ग्राम्या पृष्ठ ५८, ५९ और ६० (प्रथम संस्करण ६७)

२—ग्राम्या, पृष्ठ ११ — १२ (प्रथम संस्करण ६७)

३— " " ६६ " " "

वह उन सारी शक्तियों का विरोधी है जो जनवादी प्रवृत्तियों के विकास में बाधक हैं। वह अहिंसा को भी जनवादी तत्वों का विरोधी मानता है। इसीलिए वह कहता है:—

‘वह मनुजोचित निश्चित, कब? जब जन हों विकसित,
भावात्मक आज नहीं वह; वह अभाव वाचक ;
उसका भावात्मक रूप प्रेम केवल सार्थक ।
हिंसा-विनाश यदि, नहीं अहिंसा मात्र सृजन ,
वह लक्ष्य शून्य अति ; भर न सकी जन में जीवन ।
भव तत्त्व : प्रेम साधन हैं उभय विनाश सृजन ;
साधन बन सकते नहीं ; सृष्टि गति में बन्धन ।’

‘ग्राम्या के माध्यम से कवि ने जिस ‘विकसित मानव’ के दर्शन किये हैं, उसका मूर्तिमान किन्तु, एकाकार उदाहरण महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में उन्हें प्राप्त हुआ है :—

‘पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक,
मुक्त हुए तुम, मुक्त हुए जन, हे जग वन्द्य महात्मन्!’

‘ग्राम्या’ की रचनाओं के अन्तर्गत कवि ने जन-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उसकी दृष्टि जन-संस्कृति से लेकर जन-जीवन के समग्र अङ्ग-प्रत्यङ्गों तक गयी है। इस दृष्टिकोण से ग्राम्या में संग्रहीत ‘ग्राम युवती’, ‘ग्राम नारी’, ‘कठपुतले’, ‘गांव के लड़के’, ‘धोबियों का नृत्य’, ‘चमारों का नाच’, ‘नहान’, ‘कहारों का नाच’, ‘ग्राम देवता’, ‘ग्राम श्री’ आदि रचनायें विशेष दृष्टव्य हैं।

ग्राम्या की रचनाओं के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि कवि का मन मार्क्स दर्शन से विशेष रूप से प्रभावित हुआ

है फिर भी उसने आध्यात्मिकता के पाश से मुक्ति नहीं पाई। 'बापू' शीर्षक ग्राम्या की इन पंक्तियों में उसके मन का यह संघर्ष स्पष्टतया दृष्टिगोचर हुआ है—

है श्लाघ्य मनुज का भौतिक संचय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास ।^१

उसके इस अन्तर्द्वन्द्व का प्रतिबिम्बन 'खिडकी से' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में भी अभिव्यक्त हुआ है जिनमें कवि ने प्राचीन दार्शनिकों के इस विचार का अनुवाद प्रस्तुत किया है कि एक ही शक्ति से जगत प्रपंच का विकास हुआ है—

एक शक्ति से कहते, जग प्रपंच यह विकसित ।

एक ज्योति कर से समस्त, जड़-चेतन निमित्त,

सच है यह आलोक पाश में बंधे चराचर ।

आज आदि कारण की ओर खींचते अन्तर,

यद्यपि इस रचना में साम्यवादी विचारों की पुष्टि की गई है फिर भी उनका समाधान अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा में ही किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि 'ग्राम्या' की रचनाओं में कवि की विचारधारा को सर्वाधिक समष्टिवाद पुष्ट जनवादी विचारधारा को प्रश्रय मिला है किन्तु साथ ही वह आत्मवादी विचारधारा को भी आवश्यक समझता है। उसकी यह मान्यता है कि आध्यात्मवादी शक्तियों पर विश्वास न करने पर यान्त्रिकता की वृद्धि होगी। उच्चादशों के अभाव में मनुष्य जड़ हो जायगा।

अस्तु, 'बीणा ग्रंथि', 'पल्लव गुञ्जन', 'युगान्त-युगवाणी', तथा ग्राम्या के परिशीलन से हम कवि की विचारधारा के विषय में जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, उनकी स्थूल तालिका निम्न प्रकार से बनाई जा सकती है :—

(१) कवि अपने काव्य के प्रथम आयाम ('वीणा-ग्रन्थि', 'पल्लव-गुञ्जन'—काल) में युवकोचित भावुकता और रुमानी आदर्श-वाद से प्रभावित रहा है। भाषा और कला दोनों 'कोमल-कान्त' रही हैं। विचारों की दृष्टि में वह आस्तिक और ईश्वर के अस्तित्व पर आस्थावान रहा है। 'यथार्थ' की अपेक्षा 'आदर्श' की प्रतिष्ठा में उसने अधिक यत्न किया है।

(२) युगान्त-युगवाणी और 'ग्राम्या' में उसके कवि का स्वर परिवर्तित हुआ है। इनमें उसने अपनी कल्पना को धरती पर उतारा है और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा गान्धी जी के अहिंसा के मनोहर तथा उपयोगी चित्र उपस्थित किये हैं। 'ग्राम्या' में उसका कवि मार्क्स की विचारधारा से सर्वाधिक प्रभावित रहा है। इसलिए उसका यह काव्य-संग्रह प्रमुख रूप से प्रगतिशील तत्वों से प्रभावित है। फिर भी 'बापू' और 'गिनय' आदि रचनाओं से स्पष्ट है कि वह भौतिकता के आधार पर संस्कृति विकास को स्वीकार करके भी उसे अन्तिम नहीं मानता और उसको अध्यात्म समन्वित करके ही पूर्ण समझता है। इससे सिद्ध होता है कि कवि के मनःधरातल पर 'ग्राम्या' तक की रचनाओं में कभी कभी आध्यात्मिक विचारधारा और कभी भौतिक विचारधारा प्रधानता पाती रही है। निष्कर्ष यह कि इन दोनों विचारधाराओं का समानान्तर प्रवाह उनके काव्य के दूसरे आयाम में प्राप्त होता है। यद्यपि 'ग्राम्या' में मार्क्सवादी विचारधारा का सर्वाधिक प्रतिबिम्बन हुआ है। उनके इन कालों के काव्य की विचारधारा को यदि दार्शनिक भाषा में हम कहें तो कह सकते हैं कि इन रचनाओं में कवि का मन अन्नमय कोष से उठकर मनोमय कोष में अधिष्ठित हुआ है।

पंत जी की रचनाओं का तृतीय चरण अथवा उनका

अधुनातम काव्य और अरविन्द-दर्शन

सन् १९४० में 'पंत' जी ने 'ग्राम्या' को समाप्त कर दिया।

ऊपर यह कहा गया है कि 'ग्राम्या' में कवि का मार्क्सवादी दृष्टिकोण सर्वाधिक प्रश्रय पा सका है। किन्तु फिर भी उसकी विचारधारा आध्यात्मिकता के रङ्ग से मुक्त नहीं हुई है। इसी कारण उन्होंने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में अति भौतिकवाद का दृढ़ स्वर से निषेध किया है और पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा आत्म सत्य और वस्तु सत्य अथवा आध्यात्मिकता और भौतिकता के सम्यक समन्वय में मानी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पंत जी ने अंतर्मुखी और अध्ययनशील होने के कारण अपने काव्य को अनेक मोड़ दिये हैं किन्तु वे 'मानव' और उसके हित को कभी विस्मृत नहीं कर सके इसलिए उनके काव्य के अनेक रूपाकारों में उनकी अध्यात्म चेतना कभी क्षीण धारा में मन्थर गति से और कभी अपने समग्र रूप में तीव्र गति से प्रभावित दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए उनके भौतिकवाद में भी 'मानववाद' प्रतिष्ठित दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण 'ग्राम्या' में कवि की विचार प्रतिष्ठा 'सामूहिक चेतना तथा विकास' पर अधिष्ठित हुई है। कवि ने 'ग्राम्या' का 'विनय' शीर्षक रचना में अपने एतद्-विषयक विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं :—

‘मनुजों की लघु चेतना मिटे लघु अहंकार,
नवयुग के गुण से बिगत गुणों का अन्धकार ।
हो शान्त जाति-विद्वेष, वर्ग गत रक्त समर,
हो शान्त युगों के प्रेत, मुक्त मानव अन्तर ।
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर हों संयुक्त विश्व निर्भर ।

+ + + +
हो धरणि जनों की, जगत् स्वर्ग, जीवन का घर,
नब मानव को दो, प्रभु ! अब मानवता का घर । १

इन पंक्तियों में यद्यपि 'सामूहिक-चेतना के विकास' को मार्क्स-वादी विचारधारा के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है, फिर भी 'प्रभु' के संबोधन से उसकी आध्यात्मिक मान्यता भी स्पष्ट है, जिसके द्वारा पूर्ण प्रणति और समर्पण के साथ उसका आस्थावादी आस्तिक स्वर मुखर है।

‘स्वर्ण-किरण’ (१९४६-४७)

‘पंत’ जी ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि ‘ग्राम्या’ के प्रणयन तथा सन् ४२ के आन्दोलन के बाद मेरी विचारधारा में फिर एक परिवर्तन आने लगा था और मेरा मन साहित्य, संस्कृति तथा दर्शन-ग्रन्थों में अधिक रमने लगा था। संस्कृति-केन्द्र के कलात्मक वातावरण में मेरा सौन्दर्य-प्रिय जीवन-दृष्टा मेरे भीतर फिर जागने लगा। मुझे प्रतीत होने लगा कि एक पूर्ण विकसित समाज में मनुष्य को अवश्य ही सौन्दर्य-प्रेमी तथा संस्कृत होना चाहिए।
... मार्क्स के अध्ययन के बाद संपन्न लोक-जीवन का स्वप्न मेरी विचार-धाराओं का एक अंग बन गया था। किन्तु वह स्वप्न केवल राजनीतिक, आर्थिक मान्यताओं की वृद्धि तथा भौतिक उपकरणों के विकास के द्वारा ही पूर्ण होगा, इस पर मेरा विश्वास उठने लगा था। बाह्य रूप से एक सुव्यवस्थित तथा समृद्ध तंत्र में रहने पर भी यदि मानव-जीवन भीतर से उन्नत न हो सके और यदि उसमें उच्चतम मानवीय गुणों का विकास होने के बदले वह केवल समतल शक्तियों से जूझने के लिए यंत्र मात्र बन जाय और उसे मनुष्यत्व के मूल्य पर बाह्य व्यवस्था तथा संतुलन स्थापित करना पड़े तो ऐसा समाज या तंत्र और जिसके भी योग्य हो, मनुष्य के योग्य नहीं कहा जा सकता।”^१ श्री पन्त के समक्ष इस महती समस्या को हल करने का प्रश्न था। यद्यपि

उन्होंने इसका समाधान भौतिक-दर्शन तथा 'जैव विज्ञान' के अध्ययन में पाया था, जिसका प्रभाव 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है, फिर भी उन्हें पूर्ण सन्तुष्टि नहीं मिल पाई थी। वे एतद्विषयक चिन्तन-मनन में सतत व्याप्त रहे। उदय शंकर के 'संस्कृति-केन्द्र' में रहते उन्हें श्री अरविन्द की 'लाइफ डिवाइन' प्रथम भाग से परिचय हुआ और उस एक ही भाग के सम्यक परिशीलन से वे अपनी कल्पना द्वारा अरविन्द-दर्शन से पूर्णतया परिचित हो गए। उनकी समग्र शंकाएँ निमूल होने लगी और उन्हें 'मन के आन्तरिक विधान-संबंधी' ज्ञान स्पष्ट होने लगा। अपनी अनेक शंकाओं का अरविन्द-दर्शन में समाधान पा जाने से उनके मन में नूतन आशा और प्रेरणा का संचार हुआ। सन् १९४० से सन् ४२ तक का समय 'पंत' जी के जीवन में परिव्राजक और रुग्णावस्था का काल रहा है। यद्यपि वे परिव्राजक तो एक दृष्टि के समग्र जीवन ही रहे हैं। सन् ४७ के पूर्व अस्त-व्यस्त जीवन के कारण उनकी कोई रचना प्रकाशित नहीं हुई। सन् १९४७ ई० में उनकी स्वर्ण-किरण और 'स्वर्ण-धूलि' प्रकाशित हुई। इन दोनों संग्रहों का प्रणयन कुछ महीनों में ही हो गया था। इन रचनाओं में अरविन्द-दर्शन का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन रचनाओं के सम्बन्ध में 'बच्चन' जी ने लिखा है "अबकी बार जब वे आए तो पूरे अरविन्दवादी थे।... उनके सन्दूक अरविन्द साहित्य से खचाखच भरे थे—कुछ हिन्दी में, कुछ अंग्रेजी में।^१ श्री 'बच्चन' जी ने इन रचनाओं के विषय में लिखा है कि, "इनके अधिकांश भाग पर उनके (अरविन्द के) दर्शन और विचारों की छाया पड़ी है।... श्री अरविन्द के दर्शन, विचार, भावों और स्वप्नों की व्याख्या 'स्वर्ण किरण' और 'उत्तरा' में की गई है।"^२ अरविन्द-दर्शन की

१—कवियों में सौम्य संत, पृष्ठ ७९ (प्रथम संस्करण)

२—वही

विचारणा और निष्कर्ष क्या है, इस पर विस्तार पूर्वक अन्यत्र विचार किया गया है। इस स्थल पर, एतद्विषयक उनकी रचनाओं की पीठिका के लिए, इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि श्री अरविन्द ने ब्रह्म, जीव और जगत की विचित्र किन्तु तर्क सम्मत व्याख्या की है। उनके अनुसार जीवन में भौतिकता तथा आध्यात्मिकता दोनों की आवश्यकता है। जीवात्मा और जगत ब्रह्म के साथ एक ही चेतना से अनुस्यूत होने के कारण एक ही हैं। पत्थर और लौह ऐसे जड़-पदार्थों में भी प्राण हैं; किन्तु वे अवचेतन (Unconscious) के इतने गहरे स्तर में हैं, कि हम अनुभव नहीं कर पाते। जीवात्मा कहीं बाहर से नहीं आता वरन् जगत् में पूर्ण रूपेण व्याप्त है। भौतिकता और आध्यात्मिकता उस ब्रह्म के दो पार्श्व मात्र हैं। जीव तत्व विकसित होता हुआ अभी अन्न से मन तक पहुँचा है। उसका अग्रिम विकास अधिमानस (Supermind) तक होगा। जिस स्थिति में वह ईर्ष्या-द्वेष आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर पूर्ण शान्ति का अनुभव करेगा। इस दिशा की ओर सतत विकास हो रहा है और चेतन की इस यात्रा का प्रमाण जड़ से अर्द्धचेतन वृक्ष-लता, पशु आदि, और फिर चेतन मनुष्य है। यह विकास, चैतन्य शक्ति की आरोहण और अवरोहण दोनों प्रक्रियाओं द्वारा चिरन्तन हो रहा है। अरविन्द के इसी दर्शन से प्रभावित होकर कवि की आगामी रचनाओं की सृष्टि हुई है। समन्वय के आधार पर रची हुई ये रचनाएँ अन्तश्चेतना और मानवता पर विशेष प्रकर्ष देती हैं। ‘पत’ जी ने इन रचनाओं में मानव विकास के लिए अन्तर-विकास पर विशेष बल दिया है। अविकसित चेतना एकाङ्गी होती है, इसी-लिए उन्होंने भूत और चेतना, अध्यात्म और भौतिकता हृदय और मस्तिष्क के समन्वय में पूर्ण मानवता का विकास माना है। इसीलिए भौतिक सृष्टि के प्रति अनुरक्ति है। ‘स्वर्ण’ शब्द को कवि ने ‘चेतना’ के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है, इसीलिए ‘स्वर्ण किरण’ में

चेतना प्रधान कविताएँ हैं। 'स्वर्ण-किरण' की प्रथम रचना 'अभि-
वादन' में ही कवि का अरविन्दवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। इस रचना
में किरण के प्रतीक के माध्यम से ब्रह्म की शक्ति के रूप में चेतना के
अवरोहण का चित्र उपस्थित किया गया है। कवि ने, चेतना के
उस ज्योति संस्पर्श से भूत जीवन में किस प्रकार चैतन्य व्याप्त हो गया
है। बड़े ही काव्यमय और सटीक ढंग से चित्रित किया है :—

“हँसी, लो, स्वर्ण किरण,
शिखर आलोक धरण !
विचरती स्वर्ण किरण,
धरा पर ज्योति चरण।”^१

और पर्वत शिखरों को अपना संस्पर्श दान देती हुई जब 'धरा'
पर किरण उतरी तो पृथ्वी की क्या दशा हुई, कवि ने बड़े मनोहारी
ढंग से उस स्थिति का वर्णन किया है:—

जगे तरु नीड़ सकल
खगों की भीड़ विकल
पवन में गीत नवल
गगन में पंख चपल !

×

×

×

सरो में हँसी लहर
ज्योति का जगा प्रहर
चेतना उठी सिंह
स्पर्श यह दिव्य अमर !

×

×

×

विजय से दीप्त गगन
ध्वजा सी उड़ती पवन,

धरा रज नव चेतन
 खिला मन का लोचन,
 युगों का तमस हरण
 करे यह स्वर्ण किरण ।^१

उपयुक्त पंक्तियों में कवि ने अरविन्द-दर्शन के उस मूल सिद्धान्त को वाणी दी है, जिसमें उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि जड़-चेतन दोनों ब्रह्म के चैतन्य-तत्त्व से अनुस्यूत हैं। जड़-चेतन में मात्र आवरण और विक्षेप के कारण भेद हो गया है। जड़ में चेतन तत्त्व, इसी विक्षेप जो तमस् के रूप में परिव्याप्त हैं, उसके अवचेतन में प्रसुप्त हैं। ब्रह्म की चेतना-किरण जब उसको अपना स्पर्शदान देती है तो वह तमस् नष्ट हो जाता है और जड़ में अन्तर्निहित चैतन्य जाग्रत हो उठता है।

कवि ने 'स्वर्ण किरण' की दूसरी रचना 'सम्मोहन' में भी श्री अरविन्द के इसी विचार को मूर्त किया है। इस रचना में कवि ने जहाँ जीवन को नूतन सौन्दर्य-दृष्टि दी है वहीं प्रभु का जगत् पर कितना स्नेह है और वह किस प्रकार उससे मिलने के लिए आतुर है बताने की चेष्टा की है। कवि की सौन्दर्य-दृष्टि का एक उदाहरण देखिए :—

जादू बिछा दिया इस भू पर !
 तुमने सोने की किरणों की
 जीवन हरियाली बो—बो कर !
 फूलों से उड़ फूल, रंगों से
 निखर सूक्ष्म रंग उर के भीतर !
 बुनते स्वप्न मधुर सम्मोहन,
 स्वर्ण रुधिर से अन्तर थर्-थर् !

और जड़ में अन्तर्निहित जब चैतन्य, ब्रह्म की चेतना शक्ति का संस्पर्श पाकर चेतनता लाभ करता है तो उसकी क्या स्थिति होती है, कवि की निम्न पंक्तियों में देखिए :—

प्रणय दृष्टि दे दी नयनों की,
 प्राणों में संगीत दिया भर,
 स्वर्ण कामना का घूँघट नव,
 डाल धरा के मुख पर सुन्दर !
 निज जीवन का कटु संघर्षण,
 भूल गया वह मानव अंतर,
 जग जीवन के नव स्वप्नों की,
 ज्योति वृष्टि में स्नान कर अमर !^१

किरण रूपी चेतना के धरा-संस्पर्श करने के बाद सारा जड़-चेतन जगत् एक नव जीवन, नव स्फूर्ति तथा नूतन-कल्पना से भर गया है। उसे नव्य सौन्दर्य-दृष्टि प्राप्त हुई है। मानव-हृदय अनेक प्रकार के विक्षेपों से संभूत संघर्षों को भूल गया है और ज्योति वृष्टि में स्नान करने के पश्चात् उसके मानस में नयी कल्पनायेँ जागी हैं और वह सौन्दर्य के नए क्षितिजों को उद्घाटित करने में तत्पर हुआ है। कवि ने उपर्युक्त पंक्तियाँ अपनी दीर्घकालीन रुग्णावस्था की मुक्ति के पश्चात् लिखी हैं और उस रोग-संघर्ष में विजयी होने पर जो प्रतिक्रिया उसके मन में हुई है उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कम महत्व नहीं है। उनके मन ने यह विश्वास और भी दृढ़ हुआ है कि सब कुछ होने पर भी मानव की अपनी सीमाएँ है और उन सीमाओं से परिचित हो जाने के पश्चात् ही वह किसी अलौकिक शक्ति पर विश्वास करता है। और इसी कारण उसे केवल भौतिकता के आधार पर अतिष्ठित-जीवन एकाङ्गी प्रतीत होता है। और वह आध्यात्मिक मानववाद की कामना

करता है । कवि ने 'स्वर्ण किरण' की स्वर्णोदय शीर्षक रचना में अपने एतद्सम्बन्धी विचारों को इस प्रकार 'प्रकट किया' है :—

“भू रचना का भूतिवाद युग
हुआ विश्व इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शान्ति के
हों गत संस्कृत धर्म समन्वित
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम
मानवता को करे न खण्डित
वहिनयन विज्ञान हो महत्
अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित
एक निखिल धरणी का जीवन
एक मनुजता का संघर्षण
विपुल ज्ञान संग्रह भव पथ का
विश्व क्षेत्र का करे उन्नयन ॥”^१

बिना वहिर्दृष्टि को विज्ञान तथा अन्तर्दृष्टि को ज्ञान से समन्वित किए जीवन में सुख-शांति नहीं प्राप्त हो सकती । कवि ने इसी ज्ञान को 'स्वर्ण किरण' के प्रतीक के रूप में रखा है । किन्तु, इस प्रकार का संयोग आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है । कवि ने इस तथ्य को 'ज्वार' के रूपक में इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है :—

इस धरती के उर में है
उस शशि मुख का असीम सम्मोहन,
रोक नहीं पाते भू के तट
जीवन वारिधि का उद्वेलन !^२

१—'स्वर्ण किरण' पृष्ठ १२८ (प्रथम संस्करण)

२—'स्वर्ण किरण' पृष्ठ ४८ (प्रथम संस्करण)

कवि ने इस रूपक द्वारा यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि यद्यपि ब्रह्म का अंश जीव पृथ्वी अर्थात् जगत के माया-पाश में आबद्ध है, फिर भी जब उसे ब्रह्म की चेतना का संस्पर्श मिलेगा वह इन सारे बन्धनों को तोड़कर उससे मिलने को आतुर हो उठेगा। इसमें कोई संदेह नहीं।

जीवन में कितना सौन्दर्य है, इसका आभास मानव को तब तक नहीं हो सकेगा जब तक वह वासना जग्य अपने हृदय के समग्र 'तमस्' का नाश न कर देगा। केवल आत्मा ही शाश्वत और चिरंतन है, वही निर्भय है, उसी की उपलब्धि में सुख-शान्ति की भी उपलब्धि है। इसीलिए उसी को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। कवि ने निम्न पंक्तियों में उपनिषदों द्वारा अनुमोदित अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं :—

मृत्युहीन रे यह पुकार मानव आत्मा की निश्चय,
सत्य ज्योति अमरत्व और वह बड़े अनागत निर्भय !
वैदिक-ऋषि के अमृत निष्य बच्चों की जग में हो जय,
वे उपनिषद्, समीप बैठ रे, ग्रहण करे हम आशय !^१

अधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।

ततो भूव इव ते तमो य उ विद्यायां रताः

विद्यां च विद्यां च यस्त द्वे दोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृमश्नुते ॥^२

श्री अरविन्द का दर्शन समन्वय का समर्थक है। वे जगत् और ब्रह्म में किसी का भी निषेध नहीं करते। वे जगत को भी ब्रह्म का ही एक अंग मानते हैं। इसीलिए उन्होंने भौतिकता को अध्यात्म से समन्वित करने पर बल दिया है और इस प्रकार जीवन को समग्र दृष्टि से देखकर सुख-शान्ति की कल्पना की है। 'पंत' जी श्री अरविन्द

के दृष्टिकोण से अतिशय रूप से प्रभावित है, इसलिए उन्होंने निम्न पंक्तियों में अरविन्द के मत का इस प्रकार समर्थन किया है :—

“जन मन के विनाश पर निर्भर सामाजिक जीवन निश्चित,
साँस्कृति का भू स्वर्ग अमर आत्मिक विकास पर अवलंबित ।^१

‘स्वर्ण किरण’ की रचनाओं में कवि अरविन्द-दर्शन से इतना प्रभावित दृष्टि गोचर होता है कि वह उसके दर्शन का पद्यीकरण-सा करता प्रतीत होता है । अरविन्द का यह विचार कि सर्वत्र-जड़-चेतन में एक ही आत्मा, चैतन्य रूप से परिव्याप्त है, ‘पन्त’ जी की निम्न पंक्तियों में किस सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त हुआ है तथा कवि की अपनी अनुभूति से संपृक्त होकर किस प्रकार मनोहर हो उठा है देखिये :

“यह नीला आकाश न केवल ।
केवल अनिल न चंचल ।
इनमें चिर आनन्द भरा ।
मेरी आत्मा का उज्ज्वल । ✓
हलकी गहरी छायाके जो ।
घिरते ये रंग—बादल ।
मेरी आकांक्षा की विद्युत ।
बहती इनमें प्रतिपल ।^१

आकाश की नीलिमा अथवा आकाश का आकाशत्व आत्मा का चैतन्य तत्त्व है जो उस जड़िमा को रूप देता है उसे प्रौद्भासित करता है । वायु की जड़ता को कंपन देने वाला भी वही चेतन है । बादलों की हलकी गहरे रंगों में भी उसी चैतन्य की आकांक्षा की ‘विद्युत’ व्याप्त हो रही है । तात्पर्य यह कि जड़ का चेतन के बिना कोई

१— स्वर्ण किरण’ पृष्ठ ४६ (प्रथम संस्करण)

२— „ „ „ ६७ „

अस्तित्व नहीं। यह आत्मा ही चेतना के रूप में विकसित होकर विश्व के स्थूल रूप में परिणत हो गया है।

जगत में आत्म चेतना की व्याप्ति के कारण जड़ और चेतन, परम चेतन (ब्रह्म) बनने की आकांक्षा से सतत ऊर्ध्वमुख है। वह असत्, तमस और मृत्यु को पार कर अमृत होना चाहता है, ईश्वर होना चाहता है। कवि ने इस विचार को 'स्वर्ण किरण' में संग्रहीत 'इन्द्र धनुष' रचना में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है।

“असत् तमस औ, मृत्यु सलिल में हमें पार कर

सत्य, ज्योति, अमृतत्व धाम दो, जीवन ईश्वर । १

कवि की यह अमृतत्व की कामना जहाँ एक प्राकृतिक विकास के रूप में है वहीं वह आज के भौतिक विकास जो विज्ञान को अधिष्ठान बना कर हुआ है उसको अध्यात्म से समन्वित करने के प्रसंग में भी है। श्री अरविन्द का मत है भौतिक संगठन तो मात्र वहिसंगठन है जो एकांगी हैं। इससे जीवन में असन्तुलन आएगा और वह पूर्ण नहीं हो सकता। अतएव उन्होंने उसकी सफलता की स्वीकृति आन्तरिक विकास अथवा आध्यात्मिक विकास के आधार पर ही स्वीकार की है। अतः संगठन और वहिसंगठन के आधार पर ही जीवन की समग्रता संभव है वह चिर सुख-शान्ति का महासागर बन सकता है जो प्राणि-मात्र का चिर लक्ष्य है। कवि पंत ने आज के भौतिक विकास अथवा वहिसंगठन को इस प्रकार स्वीकार किया है :

‘आज वाष्प विद्युत औ’ विश्व किरण मानव के वाहन ।

भूति शक्ति का मूल-स्रोत भी अणु ने किया समर्पण ।

मातृ प्रकृति ने सौंप दिया मानव को विभव अपरिमित ।

हरित नील जब भी भविष्य में कर लेगा वह संचित ।

आज वनस्पति पशु जग को कर सकता मानव वर्धित ।
 गर्भाशय में जीवन अणु को ऊर्जित, विद्युत गर्भित ।
 भूत रसायन प्राणि वनस्पति शास्त्र विविध अब विकसित ।
 दिशा कालके परिणाय का रे मानव आज पुरोहित । ^१

किन्तु माता प्रकृति के इस अमित सांसारिक वैभव और शक्ति के समर्पण द्वारा जहाँ वह पूर्णतया अभ्युदय संपन्न हो गया है वहीं उसके लिए इस वैभव के दुरुपयोग से 'मानव' से 'दानव' बनने की आशंका भी उत्पन्न हो गई है । और इस अशंका को कवि ने निम्न पंक्तियों में इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है :—

“आओ, सोचें द्विपद जीत कैसे बन सकता मानव,
 शक्ति- मत्त होकर भूदेव न बन जाए भू-दानव !

× × ×

मानव-संस्कृति का क्या स्वर्ग बसाएगा वह भूपर ,
 भीषण अणु का भू प्रकंप या छोड़ेगा प्रलयंकर !
 नव मनुष्यता होगी भू संगठित कि राष्ट्र विभाजित ,
 अन्तर्द्वेषों से प्रेरित या भूत दैन्य से शासित ! ^२

भौतिकता के विकास से प्रादुर्भूत होने वाले इस संभावित आतंक से बचाव पाने के लिये केवल एक साधन है कि मानव को शिक्षित किया जाय । उसका अन्तर्विकास किया जाय क्योंकि मानव के अन्तर्जीवन का इतिहास अत्यंत भयानक रहा है । कवि ने अपने एतद्-विषयक निम्न पंक्तियों में बड़ी प्रभविष्णुता के साथ प्रकट किए हैं :—

“मानव के अन्तर्जीवन का गत इतिहास भयानक ,
 जनता के उर अन्धकार की कथा करुण मर्मन्तिक ।

शिक्षा ही बहिरंतर जन मंगल की मात्र विधायक,

अर्ध जगत अवगुंठित, तमसावृत रे लोक असंख्यक ।

अर्ध सम्य, लव विध शेष, जो जाति वर्ण के पोषक १

अस्तु, भौतिकता जन्य इन सभी द्वन्द्वों और विभेदों को दूर करने के लिए ही आज हमें मानव को नूतन शिक्षा देनी है क्योंकि वही 'आत्म ऐक्य' और 'व्यक्ति-मुक्ति' एक मात्र साधन है,

शिलान्यास मानव शिक्षा का हमको करना नूतन ।

आत्म ऐक्य औ' व्यक्ति मुक्ति का स्वर्ग सौध रच शोभन ॥ २

क्योंकि बिना ऐसा किए हुए जगत की जो स्थिति है वह अत्यन्त सोचनीय और भयावह है :

बहिर्चेतना जाग्रत जग में अन्तर्मानव निद्रित,

बाह्य परिस्थितियाँ जीवित अन्तर्जीवन मूर्च्छित मृत !

भौतिक वैभव औ आत्मिक ऐश्वर्य नहीं संयोजित ।

दर्शन औ' विज्ञान विश्व जीवन में नहीं समन्वित ॥

खोई सी है मानवता खोई बसुधा प्रतिबंधित ॥

जाति-पांति है, रूढ़ि रीति है, देश प्रदेश विभाजित ! ३

बहिरन्तर के समन्वय से जीवन की सुख-शान्ति तथा सौन्दर्य का जो अनिन्द्य और अपूर्व रूप प्रकट होगा, उमकी झांकी कवि ने निम्न पंक्तियों में उपस्थित की है:—

“मानव हो संयुक्त प्रकृति से, स्वर्ग बने भू पावन ।

बहिरंतर ऐश्वर्यों से चरितार्थ निखिल भवजीवन !

शशि मंगल लोकों को छूते, आज कल्पना के पर ।

शशि दे जन को स्वप्न, भौम मन में साहस बल दे भर ;

१— स्वर्ण किरण, पृष्ठ १७ (प्रथम संस्करण)

२— “ “ “ १७ “

३— “ “ “ १७ “

शशि-प्रभ स्वप्नों से मंगलमय स्वर्ग रचें हम सुंदर,
मानव जीवन में अवतरित पुनः हो मानव ईश्वर । ^१

भौतिकता के विकास के साथ जीवन की कुरूप परिभाषा को ही आज का मानव चरम-परम मान बैठा है, यद्यपि वह उसके प्रभाव से अत्यंत दुखी है फिर भी उसकी मान्यताओं को छोड़ नहीं पाता । इस एकांगी तथा बौद्धिक भौतिकता के कारण जीवन, स्पर्धा और अह-मन्यता से प्रतप्त हो रहा है । कवि ने लिखा है :

आज चतुर्दिक घृणा द्वेष,
स्पर्धा से जग-जीवन परितापित ।
आज एकता के मन्दिर में,
अहम्मन्य जड़ समता स्थापित !

आज प्रतीति न प्रीति हृदय में,
औ' उल्लास न आशा ।
प्रतिहिंसा, तृष्णा संशय भव,
नयनों की शर भाषा । ^२

और इसीलिए कवि ने अन्तर्वाह्य के विकास के आधार पर जीवन के स्वरूप की इस परिभाषा की कल्पना की है, जो समग्र भी है तथा सुखद और सुन्दर भी :

कब विश्वास प्रेम आशा,
पुरुषार्थ उच्च अभिलाषा ।
कला सृष्टि, सौन्दर्य दृष्टि,
होगी जीवन परिभाषा । ^३

१—स्वर्ण किरण पृष्ठ २२ (प्रथम संस्करण)

२— „ „ २६ „

३— „ „ २६ „

‘स्वर्ण किरण’ की अधिकांश कविताओं का विषय श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित ब्रह्म की शक्ति के अवरोहण की व्याख्या रहा है। कवि पंत ने इन कविताओं के माध्यम से चेतना के विभिन्न स्तरों को रूपायित किया है। ‘अरुण ज्वाल’ शीर्षक रचना में कवि ने ‘नव चेतना’ से स्फूर्त प्रकृति के अंग-प्रत्यंगों को नवीन सौन्दर्य और जीवन शक्ति से ऊर्जित देखा है। ‘स्वर्ण निर्झर’ शीर्षक रचना में अभ्यन्तर में छिपे हुए ‘सौन्दर्य-चेतना’ के उन मोहक रूपों को दर्शित किया है, जिनके विषय में लोक अभी तक अपरिचित रहा है। चेतना के संस्पर्श में प्रत्येक वस्तु एक विशिष्ट आभा और अनुपम सौन्दर्य से प्रोद्भासित हो उठी है। ‘ऊषा’ के अभिनव सौन्दर्य की एक मनोहर झाँकी देखिये :

ऊषा की लाली से कल्पित नव बसंत के कोंपल,
सौरभ पुष्पों के सत रंग खिलते प्रतिपल !
शशि किरणों के नभ के नीचे, उर के मुख से चंचल,
तुहिनो का छायावन नित कँपता रहता तारोज्ज्वल ।^१

इसके अतिरिक्त ‘स्वर्ण किरण’ की ‘ज्योति-भारत’ रचना में भी ‘दिव्य चेतना’ के अमोघ और अमित प्रभाव को स्वीकार किया गया है

‘नोआखाली के महात्मा जी के प्रति’ शीर्षक रचना में कवि ने कदाचित् श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित ‘अतिमानव’ के दर्शन किये हैं कवि ने ‘गान्धी’ जी का स्वतन करते हुये कहा है :—

‘कौन खड़े उन्नत अविचल, दुर्धर झंझा के सम्मुख ?
स्वर्ग दूत से, जाति भेद का हरने धरणी का दुख !
देह मात्र से मानव तुम, बल में अदम्य तुम भूधर,
ऊर्ध्व चरण धर चलते निश्चल, भू से स्वर्ग क्षितिज पर ।^२

१—स्वर्ण-किरण पृष्ठ ३१ (प्रथम संस्करण)

२— " " ३५ " "

‘हिमाद्रि और समुद्र’ शीर्षक रचना में चेतना के ऊर्ध्व और निम्न उभय स्वरूपों अथवा अंगों का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। एक ‘हिमालय’ का शिखर-शिखर उठ कर चिदाकाश की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तरों का स्पर्श करता है और दूसरा युगों से प्रस्तुत धरती को जागृत करने के लिये उससे लिपटा है। कवि ने हिमालय (ऊर्ध्व चेतना) की ऊँचाई को गहरा माना है और समुद्र (निम्न चेतना) की उच्चता को अत्यन्त गम्भीर स्वीकार किया है। श्री अरविन्द में जड़-जंगम में भी चैतन्य शक्ति को स्वीकार किया है। जड़-पदार्थों में वह चैतन्य-शक्ति अवचेतन में इस प्रकार प्रसुप्त रहती है कि उसका आभास नहीं होता। किन्तु, वह एक दिन जागेगी अवश्य ऐसा श्री अरविन्द का विश्वास है। श्री पंत ने उसी चेतन शक्ति को ‘हिमालय’ और ‘समुद्र’ के द्विविध प्रतीकों में देखा है। कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

हिमालय :—वह शिखर शिखर पर स्वर्गोन्नत
स्तर पर स्तर ज्यों अन्तर्विकास।

चढ़ सूक्ष्म सूक्ष्मतम चिद् नभ में,
करता हो शुचि शाश्वत विलास।’

समुद्र :— यह मनश्चेतना ज्यों सक्रिय
भू के चरणों पर विखर विखर
शत स्नेहोच्छ्वसित तरंगों की
बाहों में लेती भू को भर
नभ से बन पवन, पवन से जल
लालायित यह चेतना अमर
सोई धरती से लिपट, जगाने
उसे’ युगों की जड़ता हर।^१

‘समुद्र’विषयक पांचवीं और छठी पंक्ति में कवि ने श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित चेतन शक्ति के अवरोहण पर उसके क्रमागत निम्न अवतरण पर प्रकाश डालते हुये लिखा है कि वह चेतन शक्ति इस प्रकार आकाश पवन और पवन से जल में विवर्तित होकर पृथ्वी में प्रसुप्त चेतन शक्ति को जगाने के लिए उसे अपने आलिंगन पाश में बांध लेती है ।

‘स्वर्ण किरण’ की ‘पूषण’ शीर्षक कविता में कवि ने अरविन्द-दर्शन के इस तथ्य को निरूपित करने की चेष्टा की है कि समग्र विश्व ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । चूँकि मानव अज्ञानांधकार से परिवृत्त प्रसुप्त है, इसलिए उसे अपने स्वरूप का आभास नहीं होता । कवि ने लिखा है :—

‘मेरा यह संदेश ; उठो हे, जागो, भूचर.

तुम हो मेरे अंश, ज्योति संतान तुम अमर

छोड़ो जड़ता, छिन्न करो भवभेदों का तम

तुम हो मुझसे एक, एक तुम भूतों से सम ।^१

परम चेतन (ब्रह्म) और चेतन (जीव) में श्री अरविन्द कोई भेद नहीं मानते किन्तु जड़ता अथवा माया के कारण वह (जीव) ब्रह्म से भेद मान बैठा है ।

‘स्वर्ण किरण’ की ‘चन्द्रोदय’ शीर्षक रचना में श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित ‘अधिमानस’ [Supermind] स्थिति का और ‘द्वासुपर्णा’ शीर्षक रचना में कवि ने अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित अति-मानव के स्वरूप को स्थिर किया है जो उपनिषदों में प्रतिष्ठित एकांगी दर्शन के विरुद्ध पूर्ण संतुलन उपस्थित करता है । दोनों रचनाओं का एक-एक उदाहरण उपस्थित किया जा रहा है :—

चन्द्रोदय :—वह सोने का चांद उठा ज्योतित अधि-मन सा

मानस के अवगुन्ठन के भीतर पूषण सा

दुग्ध-धार सी दिव्य चेतना बरसा झर-झर,
 स्वप्न जड़ित करता वह भू को स्वर्जीवन भर”
 द्वा-सुपर्ण—कहीं नहीं क्या पक्षी? जो चखता जीवन फल
 विश्व बृक्ष पर नीड़, देखता भी है निश्चल ।
 परम अहम् औ, दृष्टा भोक्ता जिसमें संग-संग,
 पंखों में वहिरंतर के सब रजत स्वर्ण रँग,
 ऐसा पक्षी, जिसमें हो संपूर्ण संतुलन,
 मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु जीवन ।

* * * *

भीतर बाहर एक सत्य के रे सुपर्ण द्वय
 जीवन सफल उड़ान, पक्ष संतुलन जो, विजय ! ^१

श्री अरविन्द ने मानव को मनोमय कहा है । उनके मतानुसार वह अन्न-प्राण से उठ कर मन तक पहुँचता है । इस स्थिति में वह संकल्प-विकल्प किया करता है । वह जिस आकार की कल्पना करता है वही बन जाता है । श्री अरविन्द ने इस विचार को अपनी छाया पट कविता में इस प्रकार रखा है:—

‘कब यह उड़ जग में छा जाता,
 जीवन की रज लिपटा लाता,
 औ’ मेरे चेतना व्योम में
 इन्द्र धनुष घन बन मुसकाता ?
 नहीं जानता, कब कैसे फिर
 वह प्रकाश किरणें बरसाता !
 बाहर—भीतर ऊपर—नीचे
 मेरा मन जाता—आता है,
 सर्व व्यक्ति बनता जाता है ।’ ^२

१—स्वर्ण किरण, पृष्ठ ६४—६५ (प्रथम संस्करण)

२— ” ” ” ७२—७३ ” ”

किन्तु, अन्ततोगत्वा मन की यह भी स्थिति नहीं रहती । कवि ने श्री अरविन्द के अनुसार इसकी वृत्ति में परिवर्तन स्वीकार किया है । उसका स्तर-स्तर ऊर्ध्व-विकास होता रहता है । और इसीलिए कवि ने इस तन के मन अथवा भौतिक मन के अन्तर्गत सूक्ष्म अथवा 'आत्मा के मन' को स्वीकार किया है :—

‘तन रे मन में कहीं अन्तरित
आत्मा का मन है चिर ज्योतित,
इन छाया दृश्यों को जो
निज आभा से कर देता जीवित ।^१

और इस मन में अहर्निश परिवर्तन होता जाता है :—

मन जलता है
मन में तन में रण चलता है,
चेतन अवचेतन नित नव
परिवर्तन में ढलता है
मन जलता है ।^२

मन के इस परिवर्तन की प्रेरणा अरविन्द दर्शन से पाकर कवि ने मन के आमूल परिवर्तन की इस प्रकार कामना की है :—

सृजन करो नूतन मन !
खोल सके जो ग्रन्थि हृदय की,
उठा सके संशय—गुंठन,
आँक सके जो सूक्ष्म नयन से
जीवन का सौन्दर्य गहन !
भेद सके जो दैन्य दुरित औ^१
मृत्यु अविद्या के भीतर,

१—स्वर्ण किरण, पृष्ठ ७३ (प्रथम संस्करण)

२—स्वर्ण किरण, पृष्ठ ७३ (प्रथम संस्करण)

जहाँ प्रेम आशा शोभा

अमरत्व प्रतिष्ठित हैं प्रतिक्षण ! ^१

‘स्वर्ण किरण’ की ‘कौवे के प्रति’ रचना जहाँ पंत जी की अपरिमेय कल्पना-शक्ति की परिचायिका है, वही उसमें कवि ने ‘स्थित-प्रज्ञ’ अथवा अरविन्द द्वारा प्रतिपादित ‘अतिमानव’ के स्वरूप की प्रतिष्ठा भी की है—

“ज्योति हंस औ’ तमस् काक इन दोनों से जो है पर

उसी सर्वगत पर जो केन्द्रित रहे मनुज का अन्तर,

हँस रहे जग में, मयूर औ’ वायस रहें परस्पर !

सबके साथ अपाप बिद्ध, स्थित प्रज्ञ रहे जग में नर ! ^२

जगत में ज्योति-तमस अथवा पुण्य-पाप से जो परतत्त्व है; उसमें यदि मानव मन अधिष्ठित रह सके तो वह हंस, मयूर और वायस (बहुरंगी जगत में) से आपूर्यमाण जगत् में बिना किसी भ्रान्ति के शान्तिपूर्वक रह सकता है। इसी अपाप बिद्ध, अवस्था को प्राप्त मानव को स्थित-प्रज्ञ अथवा अतिमानव कहते हैं और बिना स्थिति की प्राप्ति के मानव का न तो कल्याण ही है और न वह अपनी इस अर्धमुखी प्रगति को रोक ही सकता है।

कवि बौद्धिकता के द्वारा प्रतिष्ठित भौतिकता के विकास से अत्यन्त दुखी है जो सृष्टि की अखंडता को खण्डित कर रही है। वह देख रहा है कि किस प्रकार इस एकाङ्गी दृष्टिकोण वाले जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर मानव जाति-पांति और ईर्ष्या-द्वेष के विग्रहों द्वारा अपने अन्तस्संगठन को छिन्न-भिन्न करके अपनी सुख-शान्ति के लिए अतिशय रूप से बाधक हो गया है। किन्तु, उसने मानवता के इन विरोधी

१—स्वर्ण किरण, पृष्ठ ७४ (प्रथम संस्करण)

तत्वों के भीतर से नयी चेतना की लहर को भी देखा है। जो द्रुत-गति से आगे बढ़ती हुई उस तमस को तिरोहित करने में संलग्न हो गई है। कवि ने अपने एतद्विषयक विचार 'स्वर्ण किरण' की 'संक्रमण' 'युग प्रभात' और 'सविता' आदि शीर्षक रचनाओं में किए हैं। उदाहरण के लिए 'संक्रमण' और 'सविता' शीर्षक रचनाओं से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :—

“रह गया, इतिहास, विज्ञान

दर्शन, सहस्र शस्त्र,

सम्यक्ता के ब्रह्मास्त्र !

खो गई एकता,

व्याप्त है अनेकता !

+

+

+

खो गई मानवता,

खो गई वसुंधरा !

नहीं सत्य सहृदयता,

नहीं कही वसुंधरा।”^४

किन्तु, चेतना की किरण के द्वारा उन्हें मानों बुद्धि अतिरेक जन्य विषमता से त्राण मिल गया है :—

अंध रूढ़ि पर चलने वाले

आज पा गए हैं अभिनव पथ,

नव प्रकाश का सूर्य उन्हें

मिल गया, दमकता सप्त अश्व रथ।”^५

‘स्वर्ण किरण’ की ‘श्री अरविन्द-दर्शन’ शीर्षक कविता से कवि ने श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित दर्शन के मूल सिद्धान्त की व्याख्या की

१—स्वर्ण किरण पृष्ठ ८१ (प्रथम संस्करण)

२— „ „ „ ८८ „ „

है। कवि उनकी विचारधारा से इतना प्रभावित है कि वह उन्हें, राम, कृष्ण आदि अवतारों की पंक्ति में ही नहीं रखता वरन् वह उन्हें युग के क्रमागत अवतारों की क्रमशः बद्धमान क्षमता और पूर्णता का विश्लेषण करता हुआ श्री अरविन्द को अत्यन्त महान ठहराता है। उसकी इस सर्वांग प्रणति से उसकी इन महापुरुष के साथ महान आस्था और भक्ति प्रकट होती है :—

‘जल जीवन में मच्छ, कच्छ तुम कर्दम में बन,
भू जड़त्व में शूकर, वनचर में नृसिंह तन,
आदि मनुज वामन, शूरो में राम परशुपण,
मर्यादामय राम, विश्वमय बने कृष्ण धन !
आज लोक संघर्षों से जब मानव जर्जर,
अतिमानव बन तुम युग संभव हुए धरा पर !
अन्न प्राण मन के त्रिदलों का कर रूपान्तर,
वसुधा पर नव स्वर्ग संजोने आए सुन्दर !’ २

श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित ‘अतिमानव’ का स्वरूप मन के अन्नमय कोश, ‘प्राणमय कोश’ और ‘मनोमय कोश’ के ऊपर रूपान्तरित होकर अधिष्ठित हो जाने में होता है। श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित ‘अतिमानव’ इहलोक (भौतिकता) और परलोक (आध्यात्मिकता) दोनों का ज्ञान रखता है तथा जागतिक संघर्षों में रहता हुआ भी वह उनमें व्याप्त नहीं होता। श्री ‘पंत’ ने श्री अरविन्द के इसी रूप को प्रणतिदान दिया है।

‘स्वर्ण किरण’ में संग्रहीत सबसे लम्बी और कदाचित् सबसे सुन्दर रचनाएँ ‘स्वर्णोदय’ और ‘अशोक वन’ है। ‘स्वर्णोदय’ को कवि ने एक उप-शीर्षक भी दिया है ‘जीवन-सौन्दर्य’। इन दोनों रचनाओं में कवि

ने श्री अरविन्द दर्शन को जिसे उसने 'चेतनावान' की संज्ञा दी है मूर्त करने की चेष्टा की है । किन्तु, दर्शन की नीरसता से ये रचनाएँ असुन्दर नहीं हो पाईं वरन् इनमें काव्य का समग्र सौन्दर्य भी अपनी समग्र गरिमा के साथ निखरा है ।

'स्वर्णोदय' में कवि ने मानव के शैशव, कैशोर, यौवन और वृद्धत्व का काव्यमय चित्रण उपस्थित किया है और मानव जीवन की इस व्याख्या के पश्चात् कवि ने नव-संस्कृति के जागरण का वर्णन किया है । इस वर्णन से श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित 'अतिमानव' की भी ध्वनि मिलती है । अतिमानव-स्थिति प्राप्त मानव-संस्कृति को कवि ने 'नव-संस्कृति' और 'नव-मानवता' की संज्ञा दी है । शैशव, कैशोर, यौवन और वृद्धत्व क्रमशः मन के विवर्तन के अन्न, प्राण, मन और अतिमानस अथवा अधिमानस रूप हैं । भावी मानव संस्कृति 'अतिमानस' की होगी । सृष्टि में निहित चेतना का अर्ध्वमुखी विकास इसी क्रम से हो रहा है । कवि ने शैशव के प्रतीक द्वारा अन्नमय कोश की अस्थिर मनः स्थिति का वर्णन किया है, कैशोर द्वारा प्राणमय कोश की मन की कुतूहल और साथ ही कुछ समझने की चेष्टा का वर्णन किया है, और यौवन के द्वारा मनोमय कोश की महत्वाकांक्षा और सौन्दर्य दृष्टि का वर्णन किया है । इस स्थिति में आदर्शों के प्रति निष्ठा और दृढ़ता भी मन में उत्पन्न होती है । वृद्धत्व के द्वारा अतिमानस-स्थिति का वर्णन किया है । अहां पर मन स्थैर्य को प्राप्त करके संश्लेषण-विश्लेषण में प्रवृत्त होता है । इस अवस्था में जिस प्रकार की संस्कृति का विकास होगा उसमें न तो मात्र भौतिकता को ही प्रश्रय मिलेगा और न आध्यात्मिकता को ही प्राधान्य मिलेगा वरन् आध्यात्म-भौतिकता को समान रूप से स्थान मिलेगा । भोग और निवृत्ति साथ-साथ रहेंगे । कवि ने लिखा है :—

तुमसे रहित अचिर, अपूर्ण जग तुमसे पूर्ण चिरंतन
तुम हो, भव है : शून्य एक के गुण से गणित निरंतर ।

तुमसे जो मन युक्त; सकल जग जीवन हो आराधन,
 प्रेम, तुम्हारे हित माया का पाश मुक्ति हो प्रतिक्षण,
 तुममें केन्द्रित लोक योजना बने स्वर्ग सी पावन,
 मानव के घट वासी, दो मानव को नवजीवन ।”^१

कवि ने आध्यात्मिकता के परिवेश में भौतिकता की स्वीकृति को ‘नव मानव जीवन’ अथवा नव मानव संस्कृति के रूप में स्वीकार किया है। वास्तव में आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय में ही जीवन और संस्कृति की समग्र परिभाषा निहित है।

‘अशोक वन’ शीर्षक रचना वास्तव में एक रूपक है। इस रचना में कवि ने रावण के ‘अशोक वन’ में बन्दिनी सीता का वर्णन किया है। इस रचना में कथा का बंधान यद्यपि पौराणिक ही है, किन्तु कवि ने अपनी प्रतिभा से उसे प्रतीकत्व भी प्रदान कर दिया है। इसी कारण यह रचना श्री अरविन्द-दर्शन की प्रतिष्ठा में भी अप्रतिम है। प्रतीक की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। सीता ब्रह्म की चेतना शक्ति हैं जो राम (ब्रह्म) से परिणीत है। रावण भौतिक सम्यता का प्रतीक है जो सीता (नवचेतना) को बन्दी बनाए हुए है क्योंकि वह राम के अवतार अथवा आध्यात्मिकता के विकास को अभिशाप समझता है। किन्तु, राम अथवा ब्रह्म की शक्ति अवतरित होकर जड़-सम्यता रूपी रावण के हाथों में छटपटाती हुई सीता रूपी अपनी चेतना शक्ति को मुक्ति प्रदान करते हैं। इस कविता की संक्षेप में यही पीठिका है। कवि ने इसी चेतना के विकास द्वारा नव-संस्कृति की कामना की है और भविष्य की उस संस्कृति के अग्रदूत के रूप में राम, गांधी, श्री अरविन्द और जवाहरलाल को स्वीकार किया है। साथ ही इस रचना में श्री अरविन्द दर्शन के समग्र मूलाधार तत्व भी प्रतिष्ठित हुए हैं, जिनका विस्तार से निर्देशन यथास्थान कर दिया गया है।

स्वर्णधूलि (१९४७)

‘पंत जी’ की ‘स्वर्णधूलि’ में संग्रहीत रचनाओं का मूल स्वर सामाजिक है। किन्तु, वह सामाजिक व्यवस्था भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के समन्वय से ही सम्भव है। इसलिए कवि की इन रचनाओं को भी अरविन्द-दर्शन के सन्दर्भ में ही लेना समीचीन होगा ‘स्वर्ण धूलि’ की प्रथम रचना में ही उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट है :—

मुझे असत् से ले जाओ तुम सत्य ओर,
मुझे तमस् से उठा, दिखाओ ज्योति छोर,
मुझे मृत्यु से बचा, बनाओ अमृत भोर ;
बार-बार अन्तर में आकर हे चिरपरिचित,
दक्षिण मुख से, रुद्र, करो मेरी रक्षा नित !

किन्तु कवि की प्रभु के प्रति प्रार्थना में निहित व्यक्तिगत चेतना आगे चलकर विश्वकामना में परिणत हो गई है :—

छोड़ नहीं सकते रे यदि जन
जाति वर्ग, नय, धर्म के लिए रक्त बहाना,
बर्बरता को संस्कृति का बाना पहनाना;—
तो अच्छा है अगर छोड़ दें
हम हिन्दू-मुस्लिम औ, ईसाई कहलाना !
मानव होकर रहें धरा पर
जाति वर्ण धर्मों से ऊपर
व्यापक मनुष्यत्व में बँधकर !”¹

वास्तव में पंत जी का मत है कि अब नव मानव-संस्कृति का विकास जाति-वर्ण-धर्म निरपेक्ष केवल मानवता के आधार पर ही हो सकता है क्योंकि ये तत्व तो अब मानव-संस्कृति के बाधक हो गए

हैं। श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित मानवता के सिद्धान्त की ओर जो आध्यात्म-भौतिकता समन्वित है, श्री पंत का संकेत है। उनकी अभीष्ट संस्कृति का निर्माण चेतना के आधार पर ही संभव है, इसलिए वे उसका उल्लेख सभी स्थलों में पूर्ण प्रकर्ष के साथ करते हैं :—

बरसो हे घन !

आशा का प्लावन बन बरसो,

नव सौन्दर्य प्रेम बन सरसो,

प्राणों में प्रतीति बन हरसो,

अमर चेतना बन नूतन,

बरसो हे घन !”^१

यद्यपि ‘स्वर्ण धूलि’ की अनेक रचनाओं में कवि की वृत्ति अन्त-सुखी रही है, फिर भी उन सभी को ‘अरविन्द-दर्शन’ के परिवेश में नहीं लिया जा सकता। ‘स्वर्ण-धूलि’ में संग्रहीत ‘सामंजस्य’, ‘आजाद’, ‘लोक सत्य’, ‘स्वप्न निर्वल’, ‘मृत्युंजय’, ‘आशंका’, ‘चौथीभूख’, ‘पैगम्बर’, ‘छाया’, ‘अन्तर्विकास’, और ‘मुक्ति बंधन’ शीर्षक रचनाओं का स्वर सिद्धान्तवादी है किन्तु: इनमें से बहुत कम पर श्री अरविन्द-दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है।

‘सामंजस्य’ शीर्षक रचना में कवि ने ‘भाव-सत्य’ और ‘वस्तु-सत्य’ के समन्वय में पूर्ण मानवता को देखा है। इनमें से किसी एक के अभाव में जीवन का सन्तुलन बिगड़ जायगा। कवि को यह प्रेरणा श्री अरविन्द के ‘अन्तर्वाह्य’ अथवा भौतिक-आध्यात्मिक संगठन के सिद्धान्त से मिली है। यह संगठन आत्मैक्य सिद्धान्त के अनुसार ही हो सकता है। कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से इनके समन्वय की चर्चा की है:—

पंख खोल सपने उड़ जाते,

सत्य न बढ़ पाता गिन-गिन पग

सामंजस्य न यदि दोनों में ,
रखती मैं, क्या चल सकता जग ? १

इन पंक्तियों से पूर्ण स्पष्ट है कि भाव—जगत और वस्तु—जगत का संतुलन आत्मा की मान्यता द्वारा ही हो सकता है ।

‘स्वर्ण धूल’ की ‘लोक सत्य’ शीर्षक रचना में कवि ने आत्मा के अधिष्ठान पर अन्न (भूतवाद) और प्राण को प्रतिष्ठित करके समग्र मानवता की कामना इस प्रकार की है :

“वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन ।

भूतवाद ही जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन ॥

औ, अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गंभीर चिरंतन ।

जिसमें मूल सृजन विकास के, विश्व प्रगति के गोपन ॥ ४

‘स्वप्न निर्वल’ शीर्षक रचना में कवि ने ब्रह्म की चेतना शक्ति के अवरोहण की चर्चा की है । वह चेतना-शक्ति किस प्रकार जगत में परिवर्तन-विवर्तन कर सतत प्रवाहित रहती है कवि की इन पंक्तियों में देखिये :

“यह जीवनी शक्ति का सागर ,
उद्वेलित जो प्रतिक्षण ।

जिसका युग चेतना सदा से ,
करती आई मंथन ।

× × ×

‘कर शंभु चाप का भंजन,

किया राम ने मुक्त ।

जीर्ण-आदर्शों से जग जीवन,

बन कर युग चेतना राम फिर ।

नवयुग परिवर्तन में,

मध्य युगों की नैतिक असि ।

खंडित करती जन मन में ।^१

इन पंक्तियों के माध्यम से कवि ने यह दर्शाया है कि सृष्टि के प्रारंभ से जगत् में व्यवस्था लाने के लिए चेतना द्वारा सतत परिवर्तन होते रहे हैं । वह चेतना शक्ति कभी राम के रूप में आई है तो कभी कृष्ण, बुद्ध और गांधी के रूप में ।

‘मृत्युंजय’ शीर्षक कविता में कवि ने ‘ईश्वर’ के मरने की बात कही है । ईश्वर अथवा आदर्श (सत्य) भी देश काल सापेक्ष होकर चलते हैं । कवि ने इसीलिए समय—समय पर परिवर्तित होने वाली आदर्श की धारा की बात की है । उदाहरणार्थ एक वातावरण में राम द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श चरम थे तो समाज की दूसरी अवस्था में कृष्ण, बुद्ध और गांधी द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श सर्व श्रेयस्कर थे । कवि ने इसीलिए इस रचना में सत्य की चेतना धारा के मरने की बात की है । वास्तव में वह मरती नहीं है क्योंकि वह अजर—अमर है, वह तो केवल समया-नुकूल नूतन रूप धारण करती है ।

“परम दृष्टि से, परम रूप में यह है ईश्वर,
अजर—अमर औ’अनेक सर्वगत अक्षर ।
व्यक्ति विश्व जड़ स्थूल सूक्ष्मतर !

+ + +

मरने दो तब ईश्वर को मरने दो हे,
वह जी उठेगा, ईश्वर को मरने दो ।
वह फिर फिर मरता, जी उठता,
ईश्वर को फिर मुक्त सृजन करने दो ।^२

‘स्वर्ण धूलि’ में संग्रहीत ‘चौथी भूख’ शीर्षक रचना में कवि ने

१— स्वर्ण धूलि, पृष्ठ ६६ (द्वितीय संस्करण)

२— “ ” ६० “ ”

अरविन्द — दर्शन का आदर्श समाज व्यवस्था के साथ अद्भुत संगुफन उपस्थित किया है। उन्होंने इस कविता में कहा है कि मानव मन को एक तो तन की भूख है जिसमें भोग वृत्ति प्रधान रहती है। दूसरी भूख है मन की जिसमें मानव-मन आत्म गौरव और कीर्ति चाहता है और तीसरी भूख है आत्मा की जिसमें मन को लय करके वह पूर्ण सन्तुष्टि और शान्ति का अनुभव करता है। किन्तु, मानव के लिए कदाचित् इनमें से कोई भी अधिक हितकर नहीं है क्योंकि ये सभी एकाङ्गी हैं मन की उस चौथी भूख का कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है, जो किसी प्रकार एकाङ्गी नहीं हैं :

किन्तु ऊपर हो कि भीतर,
मनो — गोचर या अगोचर।
क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृत घन?
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन?
जाति वर्गों से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीति में बँध
पुण्य जीवन करें यापन
जन धरा हो ज्योति पावन ।^१

उस 'अमृत घन' के संकेत द्वारा कवि ने श्री अरविन्द-द्वारा प्रतिष्ठित भौतिकता और आध्यात्मिकता के समन्वय की अभिलाषा प्रकट की है।

'छायाभा' शीर्षक रचना में कवि ने जगत को छाया-आभा के प्रतीक द्वारा दुख-सुख का समुच्चय माना है। अस्तु पूर्ण मानव वह है जो सुख-दुख को समान रूप से अपना कर दोनों से परे होकर 'अति-मानव' हो जाता है। क्योंकि ये दोनों ब्रह्म के ही रूप हैं और अविच्छिन्न हैं :

यह छायाभा है अविच्छिन्न,
 यह आँख मिचोनी चिर सुन्दर ।
 सुख दुख के सुरधनु रंगों की,
 यह स्वप्न सृष्टि अज्ञेय, अमर ! ५

‘स्वर्ण धूलि’ में कवि ने इसी प्रकार यत्र-तत्र अरविन्द-दर्शन को अभिव्यक्ति दी है। इस संग्रह में ‘स्वर्ण धूलि’ के समान अरविन्द-दर्शन को स्थान नहीं मिला फिर भी इसमें संग्रहीत रचनाओं में भी कवि की अन्तर्मुखी चिन्तनशील वृत्ति स्पष्ट है। सामाजिक व्यवस्था में वह अरविन्द के विचारों को ही प्राथमिकता प्रदान करता है।

उत्तरा और युगान्तर (१९४६-४८)

‘उत्तरा’ का प्रकाशन सन् १९४६ में और ‘युगान्तर’ का प्रकाशन सन् १९४८ में हुआ था। किन्तु दोनों की विचार-सरणि में इतना अधिक साम्य है कि उनका विवेचन एक साथ करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती।

कवि ने इस संग्रह को ‘उत्तरा’ शीर्षक से इस लिये अभिहित किया है क्योंकि उसमें उसकी उत्तरकालीन रचनाएँ संग्रहीत हैं। स्वर्ण-किरण से उद्भूत विचार-धारा जो स्वर्ण धूलि, और युगान्तर में पुष्पित होती रही है, उत्तरा तक आकर पूर्ण पुष्ट हो गई है।

कवि ने उत्तरा की भूमिका में उसकी रचनाओं के विषय में स्वीकार किया है कि इसमें कुछ रचनाएँ तो प्रतीकात्मक हैं, कुछ प्रकृति-चित्रण संबन्धी, कुछ युग जीवन संबन्धी और कुछ विप्रलम्भ श्रृंगार संबन्धी। कुछ गीत ऐसे भी हैं जो प्रार्थना-परक हैं।^१ ‘स्वर्ण-किरण’ से लेकर ‘उत्तरा’ तक की रचनाओं में विशेष रूप से कवि का दृष्टिकोण बाह्य

१- स्वर्ण-धूलि पृष्ठ ६७ (द्वितीय संस्करण)

२- उत्तरा की भूमिका, पृष्ठ २८ (,)

के साथ अम्यंतर क्रान्ति का पक्षपाती रहा है। वह 'उत्तरा' की भूमिका में स्वयं इस विषय में स्वीकार करता है, 'मैं बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्रान्ति का भी पक्षपाती हूँ जैसा कि मैं ऊपर संकेत कर चुका हूँ। आज हम वाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग शिखर पर खड़े हैं जिसके निचले स्तरों में धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का संगीत तथा भावी का सौन्दर्य बरस रहा है। ऐसे विश्व-संघर्ष के युग में सांस्कृतिक सन्तुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जाग्रतचैतन्य मानव का कर्तव्य समझता हूँ। अतएव मेरी इन रचनाओं में पाठकों को धरा शिखर के इसी संगीत की अथवा नवीन चेतना के आविर्भाव संबन्धी अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियाँ मिलेगी।' ^५ कवि का 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' और 'उत्तरा' की रचनाओं के संबन्ध में उपर्युक्त वक्तव्य यह सिद्ध करता है कि वह इन रचनाओं में अतिशय रूप से अरविन्द—दर्शन के इस सिद्धान्त से प्रभावित रहा है जिसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अन्तर्वाह्य सभी उम ब्रह्म का विकास है। स्थूल जगत् की समस्याओं में परिवर्तन—विवर्तन के साथ आन्तर जगत् अर्थात् हृदय की क्रान्ति भी परमावश्यक है, क्योंकि एक के बिना दूसरा एकाङ्गी है और कुछ अंशों तक अनिवार्य भी। इस दृष्टि कोण से 'उत्तरा' की रचनाओं की सफलता—विफलता पर प्रकाश डाला जा रहा है। इस विवेचन का वृत्त मात्र अरविन्द—दर्शन से प्रभावित रचनाओं तक ही सीमित रहेगा।

विवेचन की दृष्टि से 'स्वर्ण-किरण' की रचनाओं में कवि सिद्धान्त-वादी विशेष रहा है किन्तु 'उत्तरा' की अधिकांश रचनाओं का स्वर भाववादी है। इन रचनाओं में कवि ने अपनी अनुभूति और प्रेरणाओं को भाव जगत् में उतार कर लोक से यह कांक्षा की है कि वह अपने

अन्तर्जगत की ओर ध्यान दें। उस राशि-राशि सौन्दर्य की ओर ध्यान दे जो नूतन दृष्टि के वातायनों से विश्व में विखरा पड़ रहा है। 'उत्तरा' की रचनाओं के उद्देश्य के विषय में संक्षेप में यही कहा जा सकता है।

'उत्तरा' की रचनाओं में कवि ने श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित अन्तर्चेतना (Intuition) का व्यापक प्रयोग किया है। अन्तर्चेतना के ही आधार पर भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के समग्र अवरुद्ध कपाट खुलते हैं। यह अन्तर्चेतना ब्रह्म की वह शक्ति है जो जीव और जगत को ब्रह्म से सूत्रबद्ध किए हुए है। जब जिस मात्रा में इसकी अनुभूति का अभाव हो जाता है जीवन उसी अंश में विशृंखलित हो जाता है। इस चेतना अथवा अन्तर्चेतना को अनेक प्रकार से रूपायित करने की कवि ने चेष्टा की है। 'उत्तरा' की 'उत्तरा' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियों में कवि ने चेतना के उस ऊर्ध्व-स्तर का वर्णन किया है, जिस पर स्थित कवि का मन जगत् को निम्न प्रकार से देखता है :

बदल रहा स्थूल धरातल
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल
विस्तृत होता वहिर्जगत अब
विकसित अन्तर्जीवन अभिमत ^१

कवि ने उपर्युक्त पंक्तियों में चेतना के ऊर्ध्व स्तर से 'अन्तर्जीवन' के 'अभिमत' विकास को देखा है। अन्तर्जीवन के उस अभीष्ट विकास में जड़-चेतन, आस्तिकता-नास्तिकता, बाह्य और आभ्यन्तर का समन्वय हो जायगा। आज बुद्धि और तर्क के अनुसार इनकी एकाङ्गी स्वीकृति से मानवता का अधूरा ही विकास हो सका है। द्रष्टा कवि ने इसीलिए मानवता के रथ को एक नूतन दृष्टि से देखा है :—

जड़ चेतन के चक्र निरंतर
घूम रहे चिर प्रलय सृजन कर,
जय ध्वनि हाहा रव में बढ़ता
युग पथ पर मानवता का रथ ! १

+ + +
कहाँ बढ़ाते भीत जन चरण ?
हुआ समापन बाहर का रण ।
स्वर्ग चेतना के शोणित से
लथ पथ आज मर्त्य भू का मन—
मरते जड़, जग नव चेतन में । २

कवि ने ऊपर उद्धृत निम्न पंक्तियों में श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित उस सिद्धान्त को स्वीकार किया है जिसमें उन्होंने बाह्य से अन्तर जगत अथवा अन्नमय — प्राणमय — मनोमय कोश के ऊपर उठकर अधिमानस अथवा अतिमानस की स्थिति का वर्णन किया है । इन पंक्तियों में कवि ने मानव जीवन की उसी स्थिति की ओर संकेत किया है ।

ऊर्ध्व-स्तरों से चेतना के निम्न स्तरों पर अवरोहण करने से जो परिवर्तन निम्न स्तरों में होते हैं उनका वर्णन कवि ने उत्तरा की अनेक रचनाओं में किया है । एतद्विषयक कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :—

(१) नाचेगा जब शोणित चेतन,
बदलेगा तब युग निरुद्ध मन,
कट मर जाएँगे युग दानव,
सुर नर होंगे भाई ! ३

१—उत्तरा, पृष्ठ १ (द्वितीय संस्करण)

२— " " २८ " "

३— " " ५ " "

(२) अलता मन मेघों का सा घर
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर,
दूर क्षितिज के पार दीखती
रेख क्षितिज की नूतन !^१

इसके अतिरिक्त 'उत्तरा' में अन्य अनेक रचनाएँ हैं, जिनमें कवि ने 'चेतना' के अवरोहण को चित्रित किया है। 'चेतना' को कवि ने अनेक प्रतीक-विग्रहों के रूप में देखा है। उपर्युक्त पंक्तियों में उसे 'शोणित' 'चेतन' और 'स्वप्नों की ज्वाला' के प्रतीकों के रूप में स्वीकार किया है। अन्य स्थलों में उसे 'ज्वाल गर्भ शोणित', 'ज्योति', 'विद्युत ज्वाला', 'शोभा की लपट' के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है। 'मेघ' अथवा 'घन' के प्रतीक को जगत और चेतना के निम्न स्तरों के लिए प्रयुक्त किया है और इसके द्वारा यह दर्शाया है कि अन्तर्वाह्य के समन्वय द्वारा ही जगत और जीवन में पूर्ण शांति सम्भव है : यही जीवन की पूर्ण उपलब्धि है। ऊर्ध्वचेतना के अवतरित होने पर मानस पर जो प्रभाव होता है, उसका भी विस्तृत वर्णन 'उत्तरा' की रचनाओं में प्राप्त होता है। इस स्थिति में मानव-मन तटस्थ होकर मन में होने वाले परिवर्तनों को देखता है :—

उमड़ रही लहरे पर लहरे
घिरते घन पर फिर घन
रजत स्वर्ण बालूका पुलिन से
टूट रहे मन के प्रण
कराते शत स्वप्न निरन्तर
हर ध्वनित कर आकुल अन्तर
शंभय भय के कूलों पर भर
नव प्रतीति का प्लावन ।^२

१—उत्तरा पृष्ठ २८ (द्वितीय संस्करण)

२— " " २५ " "

और आवरण-विक्षेप के कारण जो दैवी-वृत्तियां आसुरी वृत्तियों में परिवर्तित हो गई हैं, वे फिर अपने स्वरूप को पाने लगती हैं। इसका वर्णन कवि ने निम्न पंक्तियों में किया है—

आज आ रही लहर पर लहर
डूब रहे युग के अन्तर
यह अन्तर्मन का आन्दोलन
असुर जूझते, जीतते अमर,—
धरा चेतना के प्रांगण में ।^१

‘उत्तरा’ की ‘गीत विहंग’ शीर्षक रचना में कवि ने श्री अरविन्द की मानवता की उस मान्यता की ओर संकेत किया है जो चेतना के विकसित होने पर सम्भव होगी। श्री अरविन्द का मत है कि मानवता का विकास अन्न से प्राण, प्राण से मन तक हो चुका है। अब उसका अग्रिम कदम अधिमानस की स्थिति की ओर है, जिस स्थिति पर पहुँच कर मानवता में प्रेम आदि गुण आ जायेंगे। वह भौतिकता और आध्यात्मिकता का अद्भुत समन्वय होगी।

मैं स्वर्द्धूतों को बांध मनोभाओं में
जन जीवन का नित अंग बनाता,
मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसाकर
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता !
मैं जन्म-मरण के द्वारों से बाहर कर
मानव को उसका अमरासन दे जाता,
मैं दिव्य चेतना का संदेश सुनाता,
स्वाधीन भूमि का नव्य जागरण गाता !^२

कवि ने उत्तरा की ‘परिणति’ शीर्षक रचना में व्यक्ति-चेतना अथवा

१—उत्तरा, पृष्ठ २५ (द्वितीय संस्करण)

२—उत्तरा, पृष्ठ १३ (द्वितीय संस्करण)

इस प्रकार कवि ने 'उत्तरा' की रचनाओं में श्री अरविन्द-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की मनोहर तथा विशद व्याख्या की है।

'युगान्तर' की रचनाएँ आदर्शवादी होने के कारण अन्तर्मुखी हो गई हैं। कवि के मन के अन्तर्मुखी क्षितिजों का उद्घाटन इसके रचनाओं से विशेष रूप से स्पष्ट हुआ है। कवि ने रवीन्द्र, अवनीन्द्रनाथ, मर्यादा पुरुषोत्तम तथा अरविन्द की इसमें प्रशस्ति की है। अरविन्द के ऊपर लिखी गई रचना से प्रतीत होता है कि वे श्री अरविन्द के सिद्धान्तों से अतिशय रूप से प्रभावित हुए हैं :—

हे अतिचेतन, नव मानस वसनों में हो नव भूषित
नर आदर्श बनो तुम, जिसमें नव जीवन हो बिंबित।
जीवन मन से-ऊपर, तुम नव जीवन में, नव मन में
मानवता को बाँधों अभिनव मुक्ति बन्धन में।^१

इसके अतिरिक्त 'अवतरण' शीर्षक रचना में भी श्री अरविन्द के प्रति जो प्रणति स्वीकार की है उससे भी उनकी अतुल निष्ठा प्रकट होती है। 'स्वप्न पूजन', 'जिज्ञासा', 'प्रकाश क्षण', करुणा धारा', 'शोभा जागरण', 'मानसी' आदि रचनाओं में 'चेतना' के असीम तथा अमोघ प्रभाव का वर्णन हुआ है और 'वह मानव क्या?' शीर्षक युगान्तर की रचना में आदर्श मानव का चित्रण हुआ है, जो श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित भावी मानव से साम्य रखता हुआ प्रतीत होता है।

द्वितीय अध्याय

काव्य-रूपक

(i) रजत शिखर

पंत जी ने काव्य-रूपकों की सृष्टि 'रेडियो' को दृष्टि-पथ में रखते हुए की है। इन्हें 'ध्वनि-रूपक' कहना चाहिए। क्योंकि ध्वनि के विस्तारण में ही इनकी नाट्य-कला निर्भर है। श्री पंत के इन रूपकों की समीक्षा यहाँ पर नाट्य-कला के सिद्धान्तों की दृष्टि से अभीष्ट नहीं है, इस स्थल पर तो यही अभिप्रेत है कि उनके इन रूपकों पर श्री अरविन्द के विचारों का किस सीमा तक प्रभाव पड़ा है। उनके 'रजत शिखर' शीर्षक रूपक-संग्रह में विभिन्न समयों में लिये गये ६ रूपक संग्रहीत हैं, जिनका प्रकाशन पुस्तक के रूप में सन् १९५१ में हुआ था। इन रूपकों के नाम इस प्रकार हैं :—[१] रजत-शिखर [२] फूलों का देश [३] उत्तरशती, [४] शुभ्र पुरुष [५] विद्युत वसना [६] शरद-चेतना।

पंत जी के उपर्युक्त समग्र रूपक प्रतीकात्मक हैं। स्पष्ट है कि जो लोग प्रतीक-पद्धति को नहीं समझते और काव्य को अभिधा द्वारा ही समझते हैं, उनके लिये इन रूपकों की कविता दुरुह प्रतीत होगी।

'रजत-शिखर' में कवि ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि दार्शनिक तथा साधनमय अथवा अधूरे ज्ञान का प्रचार स्वयं को तो भ्रांति में डालता ही है, समाज का भी बड़ा अहित करता है। इस नाटक का एक पात्र जो मनोवैज्ञानिक है अपने विश्लेषण के अनुसार आध्यात्मिक

अनुभूतियों को अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के रूप में स्वीकार करता है। किन्तु, अन्त में नाटक के एक पात्र जो कि अरविन्दवादी है, के अकाट्य तर्कों के प्रभाव से उसका अनुयायी हो जाता है। श्री अरविन्द के विचारों को वहन करते हुए इस रूपक के दो उदाहरण नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं, जिन में कवि ने आज के युग में नैतिक मूल्यों के प्रकाश का अभाव देखा है और अन्त में कामना की है कि 'निष्काम कर्म' को ही धर्म बनाना चाहिए क्योंकि उसी से सुख—समृद्धि प्राप्त हो सकते हैं :—

बहुत सुन चुका अधःप्राण सन्देश तुम्हारा,
निश्चय ही अब नाक द्वार है खुलने वाला ।
निश्चेतन के अन्धकार में युग का भू मन,
भटक रहा है, नैतिक मूल्यों का प्रकाश खो ।
अधः पतन में मुक्ति नहीं है ! ऊर्ध्व गमन ही,
मुक्ति द्वार है ! मोह मुक्त हो गया आज मन !

और इसीलिये कवि बड़े प्रकर्ष के साथ यह कहता है कि 'निष्काम कर्म' से ही मनः शांति उपलब्ध हो सकती है। आत्मा के प्रति अमर अनुराग ही स्वर्ग और पृथ्वी के जीवन को पूर्णता प्रदान कर सकता है—

आओ हम अंतः प्रतीत को धर्म बनायें,
आओ हम निष्काम कर्म को धर्म बनायें ।
हम आत्मा की अमर प्रीति के धरा स्वर्ग में,
सब मिल कर जीवन स्वप्नों का नीड़ सजायें
आओ, हम सब मानव का घर द्वार बसायें ।

फूलों का देश

'फूलों के देश' के विषय में कवि 'बच्चन' जी ने लिखा है :—
“फूलों का देश ! सांस्कृतिक क्षेत्र का प्रतीक है। इस रूपक में कवि ने

यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि संसार में फैले विभिन्न वादों में समन्वय-अध्यात्मवाद, भौतिकवाद, आदर्शवाद, वस्तुवाद में कराने का काम केवल कलाकार या कवि का है ।^१ इससे सिद्ध होता है कि कवि ने श्री अरविन्द के समन्वयवादी दृष्टिकोण की ही इस रूपक में प्रतिष्ठा की है । इस नाटक का एक पात्र 'कवि' है, जो पंत जी का भी प्रतिरूप प्रतीत होता है । वाह्य जीवन को अतिशय रूप में ग्रहण करने के कारण आज का जीवन प्रभूत रूप से असन्तुलित हो गया है । श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित आत्मा के अधिष्ठान को बिना स्वीकार किये यह असन्तुलन बराबर बढ़ता जायगा, क्योंकि सच्चा संसार तो भीतर ही है—

भीतर भी है सूक्ष्म परिस्थितियाँ जीवन की,
भीतर ही रे मानव, भीतर ही सच्चा जग ।

'रजत शिखर' के अन्तर्गत कवि ने मानव की आधुनिक प्रगति को संयमित करने के लिए ऊर्ध्व आरोहण और समतल आरोहण की महती आवश्यकता बतलाई है । इस रूपक में समतल संचरण का प्रतिनिधि राजनीतिज्ञ और निम्न संचरण का प्रतिनिधि सुख-वृत है जो मनोविश्लेषक है । युवक साधक ही युग का प्रतिनिधि कवि है, जो निम्न संचरण-मार्ग को अवरोद्ध करके शेष दो में समन्वय करता है ।

श्री 'अरविन्द' ऊर्ध्व-चेतना के अवरोहण और निम्न-चेतना के आरोहण के समर्थक हैं । आज का मनोविज्ञान निम्न चेतना को निर्बन्ध करने का पक्षधर है । कवि ने सुखव्रत के मुख से कहलवाया है, "हमें मुक्त करनी है पहिले काम—चेतना ।" किन्तु, इससे तो जीवन में विशृंखलता ही आएगी । इसीलिए 'पंत' जी श्री अरविन्द के अनुसार, देवत्व को उभारने और पशुत्व को निम्न-स्तरों से मुक्त करने के पक्ष-पाती हैं क्योंकि बासनाओं का दमन नहीं संयम ही श्रेयष्कर होता है :

“..... निचले मन के
आवेगों को हमें संगठित करना होगा
ऊर्ध्वज्योति में! संयम ही वास्तविक मुक्ति है”

उत्तर-शती

‘उत्तर-शती’ काव्य-रूपक में ‘पत’ जी ने यह भविष्यवाणी की है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नूतन युग का प्रारंभ होगा। अस्तु, उस युग के प्रारंभ होने से पूर्व जो सघर्ष दृष्टि-गोचर होता है, वह उसी की तैयारी के लिये है :

टकराती हैं नव्य-चेतना की हिल्लोलें,
युग मन की निश्चेष्ट बधिर पाषाण शिला पर।
हाहाकारों से, जयघोषों से समुच्छ्वसित,
विश्व क्रान्ति की ओर आरोहण करती।

शुभ पुरुष

‘शुभ पुरुष’ रूपक में महात्मा गाँधी की प्रशस्ति की गई है। इसमें इसके अतिरिक्त कि सद्-वृत्तियों का उदात्तीकरण हो और कोई भी प्रभाव श्री अरविन्द की विचार-धारा का नहीं प्रतीत होता।

विद्युत-वसना

‘विद्युत-वसना’ रूपक स्वाधीनता के विषय में लिखा गया है। विद्युत की संज्ञा कवि ने स्वतंत्रता—चेतना से दी है। किन्तु, इस स्वतंत्रता—चेतना का कवि ने अरविन्द-दर्शन की ऊर्ध्व-चेतना के साथ संयुक्त कर दिया है :

दुनिवार कामना ! कौन सी महा शक्ति यह,
जन समुद्र को है ढ़केलती युग तोरण से।
नव प्रभात के सद्य प्रज्वलित नव प्रदेश में,

जीवन का सौन्दर्य धरा का स्वर्णिम वैभव ।

जहाँ हंस रहा दिग्, दिगन्त में जन जन के हित ।

कवि ने वैदिक ऋषियों के समान रूपक को रचनाओं को मंत्र-पूत करना चाहा है । इससे कवि की अरविन्द विषयक यह मान्यता स्वीकृत प्रतीत होती है कि 'मंत्र' ही सर्वश्रेष्ठ कविता है ।

शरद चेतना

‘शरद-चेतना’ रूपक में कवि ने ऊर्ध्व-चेतना के अवरोहण को दर्शाया है । हमारे दर्शनों ने ब्रह्म की दो चेतनाएं स्वीकार की हैं । प्रथम को उन्होंने मार्जारी न्याय के अन्तर्गत अभिव्यक्ति दी है और दूसरे को मर्कट न्याय ! वास्तव में जीव का प्रयास प्राकृतिक रूप से ब्रह्म से मिलने अथवा ऊर्ध्व-चेतना से मिलने का है । जीव उस ब्राह्मी स्थिति को पाने के लिए सतत उछल-कूद कर रहा है । किन्तु ऐसा नहीं है कि ब्रह्म की चेतना निष्क्रिय रहती हो वह भी उसके ऊपर पूर्ण ललक के साथ अनुग्रह करके उससे मिलने के लिए नीचे आती है । इस प्रकार ब्रह्म के साथ जीव मिल जाता है; ऊर्ध्व चेतना से निम्न-चेतना मिल जाती है । इसी को श्री अरविन्द ने Double ladder की संज्ञा दी है । कवि ने चादनी के रूपक के माध्य से दूसरा बड़ा सटीक वर्णन किया है :

भौतिक ज्योति नहीं है केवल शरद चाँदनी,

आत्मलीन वह अमर चेतना स्वर्ग लोक की ।

अतिक्रम कर सब दिशा काल, तन मन के बंधन,

आत्मोल्लास प्रदीप्त, हुई परिव्याप्त चतुर्दिक् ।

इसी कारण पृथ्वी पर की अन्य ऋतुयों जो जीव की लघु-चेतना अथवा निम्न-चेतना की प्रतीक हैं उससे (चाँदनी से) मिलने को आतुर रहती है, अभिवादन के लिये सतत प्रस्तुत :

“भूवासिनि ऋतुओं अन्य सभी,
 तुम नभ—वासिनि चिर निर्मल री ।
 वे धरती की रज में लिपटीं,
 तुम स्वर्ग-गा—सी उज्ज्वल री ।”

‘रजत-शिखर’ काव्य-रूपक-संग्रह में भी कवि ने यथाशक्य श्री अरविन्द के विचारों को अभिव्यक्ति दी है और इस दृष्टिकोण से उनका यह कार्य सर्वथा स्तुत्य रहा है ।

शिल्पी

‘रजत शिखर’ के समान ‘शिल्पी’ भी कवि ‘पंत’ का एक सिद्धन्त-वादी काव्य-रूपक-संग्रह है । भूमि संग्रह में तीन काव्य-रूपक संग्रहीत हैं ‘शिल्पी ध्वंस शेष’ और ‘अप्सरा’ । ‘शिल्पी’ के संक्षिप्त ‘विज्ञापन’ में कवि ने लिखा है : “इन रूपकों में वर्तमान विश्व संघर्ष को वाणी देने के साथ ही नवीन जीवन निर्माण की ओर इंगित करने का प्रयत्न किया गया है ।”^१ पंत जी के उपयुक्त विज्ञापन से यह सिद्ध होता है कि उनकी यह मान्यता है कि मौलिकवाद से प्रसूत तथा बुद्धिवाद पर प्रतिष्ठित एकांगी विचारणा के कारण आज विश्व में चतुर्दिक संघर्ष है । इस संघर्ष से तभी मुक्ति मिल सकती है जब विचार अथवा सिद्धांत को समग्र बनाया जाय । श्री अरविन्द ने अन्तर्वाह्य के समन्वय को ही जीवन की समग्र दृष्टि कहा है, अस्तु इसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए । शिल्पी में संग्रहीत रूपकों का यही मूल विषय है ।

‘शिल्पी’ शीर्षक रूपक में कवि ने आस्था को प्रधानता दी है । आस्था ही पाषाण में प्राण-प्रतिष्ठा करती है, उसे जीवन्त बनाती है, नहीं तो वह पत्थर तो है ही । कवि ने इसीलिए ‘युगवाणी’ के अन्तर्गत ‘शिल्पी’ को अपनी फटकार भरी सीख दी थी :—

‘हे शिल्पकार वर ! कठिन धातु,
जड़-प्रस्तर में भर अमर प्राण
दे सके नहीं मानव जग को,
तुम मानवता का अमर मान ।’

‘शिल्पी’ में कवि के शिल्पी ने एकदंत, मुरलीधर, गौतम बुद्ध, आदि की प्रतिमाएँ बनाई हैं, साथ ही उसने ‘चन्द्र कौमुदी, ‘मेघ दामिनी’ और ‘पूर्ण चन्द्र सागर वेला’ की प्रतिमाएँ भी निर्मित की हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि कवि ने द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और पश्चात्पद गृहीत नूतन व भाववादी दृष्टिकोण को मूर्त करने की चेष्टा की है। साथ ही यह भी व्यंग्य से ध्वनित करना चाहा है कि अन्तर्वाह्य के समन्वय में ही कला की पूर्णता है। किन्तु, इन दो दृष्टिकोणों के चित्रों के निर्माण में जो वस्तुतः समन्वित न होकर पृथक्-पृथक् थे शिल्पी को सन्तोष नहीं हुआ और उसने एक और चित्र बनाया जिससे उसे पूर्ण सन्तोष मिलता जान पड़ा। वह था क्रांति अथवा विल्पव का चित्र जो प्रगतिवादी तत्वों के आधार पर निर्मित था।

ईश्वर ! अब जाकर पाषाण सजीव हुआ कुछ
युग-विल्व की पृष्ठभूमि साकार हो गई,
प्रस्तर के युग में युग जीवन का समुद्र ही
हिल्लोलित हो उठा, क्षुब्ध जन आवेशों में।

किन्तु युग-विल्व को मूर्त करने के पश्चात् भी उसे सन्तोष नहीं हो सका क्योंकि वास्तव में युग-विल्व को नहीं युग-आत्मा को जो युग-जीवन की प्रतीक है प्रतिष्ठित करना ही प्रतिभा का अभीष्ट रूप है। यह अभीष्ट मूर्ति बहिरंतर की समन्वय चेष्टा में ही संभव है—

“यही प्रश्न है आज कला के सम्मुख निश्चय
जो दुःसाध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को,

बहिरंतर की जटिल विषमताओं में उसको
नव समत्व भरना होगा, सौन्दर्य सन्तुलित ।’

अन्त में कवि ने बहिरंतर-संयोजित तथा ‘सौन्दर्य-संतुलित’ अभीष्ट
प्रतिमा का निर्माण शिल्पी द्वारा करा ही डाला :—

आह अन्त में दृष्टि शून्य पाहन पलकों पर
मूर्त हो उठा स्वर्ण स्वप्न मानव का अन्तर ।

+ + + +

कवि ने इस प्रतिमा के विषय में लिखा है—

‘निश्चय, यह जन के मन मन्दिर की प्रतिमा है,
जन आकांक्षा की प्रतीक, जन जीवनमय है ।
सामूहिक चेतना हो उठी मूर्तित इसमें,
शक्ति, स्फूर्ति-विश्वास भरेगी यह जन मन में ।’

‘शिल्पी’ रूपक के माध्यम से कवि व्यंग्य रूप में अपनी अभिनव
कविता की ओर भी संकेत किया है । बाह्य और आभ्यन्तर के समन्वय
में ही जीवन का समग्र चित्र है, यही इस रूपक का मुख्य विषय है ।
श्री पंत का बाह्य और आभ्यन्तर का संयोजन श्री अरविन्द के भौतिकता
और आध्यात्मिकता के समन्यवादी विचार से ही प्रभावित है, इसमें
कोई सन्देह नहीं ।

ध्वंस-शेष

‘ध्वंस शेष’ काव्य रूपक में श्री ‘पंत जी’ ने तीसरे महायुद्ध की
आशंका प्रकट की है । आज के युग के विध्वंसकारी वैज्ञानिक आवि-
ष्कारों ने मानवता को अतिशय रूप से आतंकित कर दिया है विश्व-
युद्ध की उस विध्वंसकारी कल्पना में ही कवि कांप उठा है और उसी

कल्पना को इस रूपक में चित्रित किया है। विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित ध्वंसावशेष यांत्रिक सम्यता का अरविन्द के सिद्धान्तों के अनुसार पुनर्निर्माण करने की इच्छा प्रकट की है। कवि का यह कहना है कि हमें इस महानाश से विचलित नहीं होना चाहिए क्योंकि यह बाह्य क्रांति नहीं बरन् आन्तरिक क्रांति है और इसके पश्चात् मानवता ऊर्ध्व संचरण करेगी—

कातर मत हो प्रकृति, तुम्हें यह मर्त्यो सी,
कष्ट क्लीबता नहीं सुहाती, शान्त करो मन !
भूत-प्रलय यह नहीं, मात्र यह मनः क्रांति है,
आरोहण कर रही सम्यता, नव शिखरों पर ।^१

इस रूपक को कवि ने स्थूल रूप से 'लोकतंत्र' और 'आश्रम-जीवन' के युगल स्तम्भों में विभक्त किया है। 'लोक-तंत्र' से उसका अभिप्राय बाह्य तथा 'आश्रम-जीवन' से आभ्यन्तर जीवन से है। वास्तव में 'लोक-तंत्र' का जीवन कवि के मत से 'छाया' की छाया है।

'लोकतंत्र का जीवन वैभव इस जीवन की
छाया की छाया है, क्षर भू रज में लुठित !'^२

और इसीलिए आध्यात्मिक जीवन, जो वास्तव में अन्तर्जीवन है, को ही वह जीवन का लक्ष्य मानता है।

'मानव जीवन ही भू जीवन का भविष्य है।' ^३ इस रूपक के माध्यम से भी 'ज्योत्सना' की भाँति एक आदर्श जीवन का अधिस्वप्न उपस्थित किया गया है, जिसमें अन्तर के आधार पर वहिर्गठन की चेष्टा है।

१—शिल्पी, पृष्ठ ८६

२— „ „ ८४

३—शिल्पी, पृष्ठ ६२

अप्सरा

‘शिल्पी’ में संगृहीत तीसरा ‘काव्य-रूपक’ अप्सरा है। जिसके विषय में कवि पंत ने स्वयं ही कहा है कि यह ‘सौन्दर्य चेतना का रूपक’ यह रूपक ‘गुंजन’ की ‘अप्सरा’ शीर्षक रचना से पूर्ण सम्बद्ध है। ‘गुंजन’ में कवि ने ‘अप्सरा’ के प्रतीक के माध्यम से परम चैतन्य शक्ति अथवा पराशक्ति का वर्णन किया है :—

प्रति युग मे आती हो रंगिणि !

रच-रच रूप नवीन,

तुम सुर-नर-मुनि-ईप्सित-अप्सरि !

त्रिभुवन भर में लीन ।

किन्तु, यह परम चेतना मात्र-सत्-चित् ही नहीं है वरन् वह आनन्द से भी समन्वित है। वह सत्य भी है, शिव भी है और सुन्दर भी है। रूपक में भी सौन्दर्य के परिवेश में सत्य और शिव अथवा चेतना शक्ति को स्वीकार किया गया है। वास्तव में काव्य की अभिव्यक्ति सुन्दर के ही माध्यम से होती है। कदाचित् कवि ने इसी कारण ‘अप्सरा’ के समान सुन्दर प्रतीक अपने अभिव्यंजन के लिए चुना है। कवि की सौन्दर्य-चेतना परम चेतना ही है :

“केवल न प्रकृति ही का प्रांगण

मै रंग सृष्टि में नहलाती,

मैं अन्तर जग को भी अपनी

स्वप्निल सुषमा में लिपटाती ।”

इस काव्य रूपक को चार दृश्यों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक दृश्य के लिए कवि ने एक साभिप्राय शीर्षक भी दिया है, यथा प्रथम दृश्य को ‘भावाद्वेलन’, द्वितीय को ‘मानसिक संघर्ष’, तृतीय को

‘उन्मेष’ और चतुर्थ को ‘रूपान्तर ।’ इससे प्रतीत होता है कि कवि को इस प्रतीक-रूपक के माध्यम से अपने विचारों को जनता तक पहुँचाना भी अभीष्ट रहा है । कवि इस शक्ति को अपने हृदय में पूर्णतया प्रविष्ट कर लेना चाहता है और इसीलिए वह उसके प्रति अपनी समग्र श्रद्धा और विश्वास समर्पित करने को सन्नद्ध हैं :—

तुमको प्रतीति करता अपित
उर की श्रद्धा से अभिनन्दित ।

इन पंक्तियों में भारतीय दर्शन का सार रूपायित हो उठा है । बिना समग्र समर्पण के अहंता का पूर्ण नाश नहीं होता और बिना अहंता के निरसन के परमात्म-तत्त्व अथवा अभीष्ट की प्राप्ति असम्भव है । गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है, ‘सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं बज्र अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।’

श्री अरविन्द-दर्शन की भी यही मान्यता है कि बिना समग्र प्रणति के तत्त्व की प्राप्ति असंभव है । किन्तु, यह समग्र प्रणति—दान बिना प्रेम के असंभव है । इसीलिए अप्सरा कहती है—

मैं आत्म-समर्पण के क्षण में
निर्झर प्रकाश के बरसाती ।^१

वास्तव में ‘प्रकाश निर्झर’ प्रेम के ही प्रतीक हैं । आत्म-समर्पण के पश्चात् प्रेम की प्राप्ति होती है, अर्थात् प्रेम साध्य और महान वस्तु है तथा ‘आत्म-समर्पण’ साधन और उससे निम्न वस्तु है ।

‘मानसिक-संघर्ष (द्वितीय दृश्य) शीर्षक ने कवि ने अवचेतन की विकृतियों का भयावह वर्णन किया है । अवचेतन की ये विकृतियाँ इतनी अशोभन और कुरूप हैं कि वे नव्य-सौन्दर्य-चेतना के मार्ग को बड़ी तत्परता के साथ अवरुद्ध किए हुए हैं और वह नीचे उतरने में

अपने को पूर्णतया अक्षम पाती हैं। कवि ने अनेक प्रतीकों के माध्यम से इन विकृतियों को मूर्तित किया है :—

“युग जीवन कर्दम के दादुर”
 समवेत कंठ गाते बेसुर,
 जनता, जनता रटते, उसका
 मानवता से कर बहिष्कार !
 ये जन धरणी के बुद्धि प्राण
 आहत जिनका मिथ्याभिमान,
 ये धरा चेतना के प्रतिनिधि
 रोके मानव का मुक्ति द्वार !”^१

नव्य-चेतना के अवरोधक अवचेतन में स्थित कुरूप तत्वों को ‘लुंठित-काया’, ‘लुंजित-पुंजित’ छाया, ‘सिद्धान्तों की मृग-तृष्णा’, ‘गिरगिट’, ‘जीवन-कर्दम के दादुर’ आदि प्रतीकों से अभिव्यक्त किया है। नव्य-सौन्दर्य-चेतना का इन्हीं से संघर्ष है। अन्त में ये सभी विकृतियाँ ध्वस्त हो जाती हैं और कवि कलाकार के माध्यम से नव-चेतना को विजयी होता देखता है और उसे अब मानवता को नव्य-चेतना से अनुप्राणित करने में योग देना शेष रह गया है :—

आज नया दायित्व भार है मध्यवर्ग के
 सृजन प्राण युग जीवन-शिल्पी के कंधे पर,
 धरती की सौन्दर्य-चेतना का प्रतिनिधि जो !
 युग मन के बिखरे अनगढ़ उपकरणों को ले
 मनुष्यत्व की नव प्रतिमा कल्पित कर उसको
 प्राण प्रतिष्ठित करना है जन मन्दिर में।”

तृतीय दृश्य ‘उन्मेष’ में कवि ने ‘धेनु-धरा’ वाले पौराणिक रूपक

के अनुसार 'धरा-चेतना' की कल्पना की है। पौराणिक रूपक में धेनु रूपी पृथ्वी भगवान के समक्ष अपनी मुक्ति की विनय करती है और ठीक उसी प्रकार 'धरा-चेतना' भी करती है :—

“युग के कर्दम में लिपटा तन
अवचेतन तम में भटका मन,
जीवन स्वर्ग बसाने को
कब से आकुल घटवासी ।

* * * *
मेरे मूक हृदय में प्रतिक्षण
जगता रहता स्वर्गिक स्पन्दन,
अमर चेतना से कब मंडित
होंगे मृत्यु बिलासी !”¹

भगवान के समान ही कलाकार ने धरा चेतना को आश्वस्त करते हुए कहा :—

जगत् भागवत्-जीवन भिन्न पदार्थ नहीं है,
ईश्वर का ही अंश जगत् आरोहण पथ पर,
जिसका पूर्ण प्रकारान्तर होना निश्चित है ।’

कवि ने उपर्युक्त पंक्तियों द्वारा श्री अरविन्द दर्शन के इस तथ्य को कि मूलतः जगत् और ब्रह्म में पार्थक्य नहीं है, वे एक ही हैं। सृष्टि का अब तक विकास यह सिद्ध करता है कि जगत् जो ईश्वर का ही अंश है ऊर्ध्व सचरण करता हुआ, जड़ से अर्द्धचेतन और फिर चेतन स्थिति को प्राप्त हुआ है और इस स्थिति में भी वह अधिक नहीं ठहरेगा, वरन् उसका रूपान्तर होना अवश्य सम्भावी है। उसकी स्थिति अधिमानस पर अवश्य होगी।

अन्तिम दृश्य 'रूपान्तर' में कवि ने सौन्दर्य-चेतना के स्वरूप की परिभाषा ही है। अत्यन्त प्रकृष्ट एवं सारगर्भित रूप से उसने कलाकार के माध्यम से अपने विचार प्रकट किए हैं:—

‘क्या है यह सौंदर्य चेतना ? जग जीवन की
अन्तरतम स्वर सङ्गति जो अब अन्तर्नभ के
शिखरों से है उतर रही स्वर्णिम प्रवाह सी
स्वप्नों से शोभा उर्वर करने वसुधा को !”^१

कवि ने उस सौंदर्य-चेतना के स्वरूप को अन्तर्वाह्य अथवा भौतिक आध्यात्मिक-समन्वय में देखा है। श्री अरविन्द दर्शन की भी यही दृढ़ मान्यता है। श्री अरविन्द भी निषेध में नहीं वरन् समन्वय में समग्र जीवन-सौन्दर्य को स्वीकार करते हैं। श्री पंत के उत्तरवर्ती काव्य की विचार-पीठिका यही दार्शनिक मान्यता रही है। कवि ने इस रूपक में कलाकार के माध्यम से चेतना का जो ऊर्ध्व-संचरण प्रदर्शित किया है, उसमें श्री अरविन्द-दर्शन का पूर्ण प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है :—

उच्च उच्च तर सोपानों पर चढ़ अधिमान के
अतिमानस के दिव्य विभव से अभि प्रेरित हो,
मनुज चेतना उपचेतन की अन्ध गुहा को
अवगाहित कर रही निखिल कल्मष कर्दम से !
विगत अहन्ता का विधान विकसित वर्धित हो
मुक्त हो रहा राग द्वेष, कुत्सा स्पर्धा से !
भेद भाव मिट रहे, छंट रहा शंसय का तम,
उदय हो रही अन्तर्मुख भावना साम्य की !

× × ×
संयोजित हो रहा मनुज मन नव प्रकाश में
जन्म ले रही नव मनुष्यता हृदय क्षितिज में ।”^२

कवि ने इस रूपक के द्वारा श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित मानवता की विकास-सरणि को उपस्थित किया है ।

स्वप्न और सत्य

‘स्वप्न और सत्य’ रूपक में भी ‘पंत’ जी ने अन्तर्वाह्य के समन्वय द्वारा विश्व-शान्ति की प्रतिष्ठा की है । ‘रजत शिखर’ में युवक कवि के द्वारा, ‘शिल्पी’ में मूर्तिकार के द्वारा और ‘स्वप्न और सत्य’ में यह कार्यभार कवि ने चित्रकार के ऊपर डाला है । कदाचित् कवि ने इस प्रकार की योजना प्रोत्साहनीयता को दृष्टि में रखकर बनाई है ।

इस रूपक में तीन दृश्य हैं, पहला जागृतावस्था का तथा शेष दो स्वप्नावस्था के । इसमें दो मित्रों के विरोधी विचारों, जिनमें एक समष्टिवादी है तथा दूसरा अन्तश्चेतनावदी । इन दोनों के तर्कों द्वारा अरविन्द के समन्वयवादी दर्शन की प्रतिष्ठा की गई है ।

यह समन्वय चेतना शक्ति के द्वारा ही सम्भव है इसलिए कवि ने उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है—

एक ओर चेतना शक्ति है, जो मानव के
अन्तर्तम में अन्तर्हित है, ज्योति प्रीतिमय
जो विकास पथ में सम्भवतः जिसके धूमिल
चरण चिन्ह भू पथ पर छोड़ गये प्रबुद्ध जन !

तर्क बुद्धि, मतवादों से जो कहीं पूर्ण है ।^१

इन्हीं विचारों में डूबा हुआ चित्रकार निद्रित होता है और स्वप्न में उसके अन्तर्मन में सूक्ष्म जगत् जागृत हो उठता है :—

स्वर्ग लोक है यह क्या अन्तर्मन का दर्पण ?^२

यहाँ पर उसे श्री अरविन्द द्वारा निरूपित दोहरे सोपान (Dou-

ble Ladder) वाले सिद्धान्त का ज्ञान होता है। वह स्पष्ट देखता है कि निम्न चेतना ऊपर चढ़ रही है और ऊर्ध्व चेतना नीचे उतर रही है। वास्तव में मुक्त ऊर्ध्वत्व प्राप्त करके शून्य में नहीं खो जाता वरन् नीचे उतर निम्न को ऊर्ध्व गति प्रदान करता है। इस रूपक में चेतना के संचरण के द्वारा अन्तर्वाह्य के समन्वय को आदर्श जीवन के रूप में देखा गया है:-

अधःऊर्ध्व सोपान श्रेणियों में बहु छहरा
 एक दूसरे पर निर्भर है जिनकी सत्ता
 एकाङ्गी अभिव्यक्ति नहीं श्रेयष्कर इनकी !

+

+

+

मुक्ति रिक्त कल्पना नहीं, वास्तविक सत्य
 उसे प्रतिष्ठित करना होगा जन समाज में ।^१

‘स्वप्न और सत्य’ काव्य रूपक में कवि पंत ने उन गत रूढ़ियों को रूपायित करने की चेष्टा की है, जो उर्ध्व-चेतना के मार्ग में सतत् बाधक हो रही हैं। वे रूढ़ियां जन-मानस के अवचेतन और अचेतन में प्रविष्ट होकर मानवता के अग्रिम विकास में अत्यंत हानि प्रद सिद्ध हो रही हैं। किन्तु, कवि को पूर्ण निश्चय है कि चेतना की उस सतत प्रवहमान गति को वे रोक नहीं सकती और चेतना की नूतन उषा का आगमन असन्दिग्ध है। मानवता का नया सबेरा अवश्य होगा:-

“बाहर जीवन का संघर्षण
 भीतर आवेशों का गर्जन,
 भरा मौन प्राणों का क्रन्दन
 उर में दुःसह व्यथा भार है !
 बदल रहा जन भू का जीवन,
 बिखर तटों पर रहा विश्व मन,

धुमड़ रहा उन्मद अवचेतन

मनुज विजय बन रही हार है !

युग परिवर्तन का दुर्वह क्षण

डाल अचेतन का अवगुंठन

आरोहण करता नव चेतन

प्रलय सृजन क्रम दुर्निवार है ।^१

+

+

+

+

“हँसता नव जीवन अरुणोदय

तम प्रकाश में होता तन्मय,

सिन्धु क्षितिज पर दूर स्वप्न स्मित

उठता स्वर्णिम ज्योति ज्वार है” !^२

कवि ने इस प्रकार श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित चेतना के नए स्वर का ‘स्वप्न और सत्य’ काव्य रूपक में हार्दिक स्वागत किया है ।

सौवर्ण

‘सौवर्ण’ इस रूपक का प्रतीक ‘शीर्ष्क’ है । वेदों से लेकर आधुनिक काल तक कवियों ने इसका प्रयोग किया है । कवि श्री हरवंशराय ‘बच्चन’ ने इस प्रतीक की महत्ता इन शब्दों में स्वीकार की है :—

‘सौवर्ण’ का अर्थ हुआ सोने का—कंचन का । पंत जी की कविता में उष्कृष्ट, निर्मल, ज्योतिर्मय, पवित्र, शुभ्र, तेजोमय के अर्थ में स्वर्ण के प्रयोग के लिये हमें ‘स्वर्ण—किरण’ और ‘स्वर्ण—धूलि’ से बहुत पीछे जाना होगा । इन रचनाओं के बाद से उन्होंने सुवर्ण के विशेषण बहुत अर्थ भरा है और इसका बहुतायत से प्रयोग किया है ।
. हिरण्यगर्भ से हमने वेदों में ब्रह्म की ज्योति के दर्शन कराये तो उपनिषदों में ‘हिरण्यमय’ पात्र बन कर इसने सत्य को छिपा दिया ।

मध्यकालीन युग में सन्तों ने इसे कामिनी के समान त्याज्य ठहराया
 । भारत में दर्शन के क्षेत्र में श्री
 अरविन्द की विचार-प्रक्रिया संक्षेप में यों हुई—मनुष्य केवल शरीर ही
 नहीं मनस्, आत्मा भी है, विकास होगा तो सबको लेकर होगा, अगर
 मनुष्य बानर से नर हुआ है तो नर से नारायण भी होगा । मानस के
 चरम विकास पर वह अतिमानस और अधिमानस में प्रविष्ट होगा,
 प्राणवान से महाप्राण बनेगा, हाड़—माँस शरीरी से दिव्य शरीरी (of
 divine body) बनेगा । मानव सृष्टि की अन्तिम परिणति यदि यह
 होनी है तो इससे अनेक तर्कसम्मत सिद्धान्त, स्थापनाये, विचार श्रृंख-
 लाएँ बनती हैं जिनका प्रतिपादन श्री अरविन्द ने अपने लगभग हजार
 पृष्ठों के महाग्रन्थ 'डिवाइन लाइफ' में किया है । पंत जी का 'सौवर्ण'
 श्री अरविन्द का 'डिवाइन मैन'—मानव ईश्वर है ।^१

श्री 'बच्चन' जी के उपर्युक्त उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि
 कवि ने 'सौवर्ण' की सृष्टि एक निश्चित योजना के अन्तर्गत की है ।
 इसमें मानवता के अग्रिम विकास 'मानव ईश्वर' की रूप-रेखा को
 स्पष्ट करने की कवि की अभीप्सा रही है ।

इस रूपक का सारांश इस प्रकार है—विश्व संस्कृति के मूल
 हिमाद्रि पर समग्र देवी-देवता एकत्र होते हैं । वे विश्व का निरीक्षण
 कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अब चेतन और अन्तश्चेतन समान
 रूप से सक्रिय हैं । उन्हें अनुभव होता है कि यह संक्रमण काल है और
 सृष्टि-विकास का एक अध्याय और समाप्त हो गया है तथा अब उसके
 अन्तर्वाह्य में नव्य संयोजन होने वाला है ।

स्वर्दूत और स्वर्दूती धरातल पर उतर कर विकास की दो प्रणा-
 लियों को देखते हैं । प्रथम में मानव केवल अन्तर्विकास पर प्रकर्ष देते
 हैं और द्वितीय में समदिक् प्रसार को महत्व देते हैं । ये दोनों प्रक्रियायें

एकांगी हैं, इसलिये अवाँछनीय हैं। वास्तव में समन्वय में ही विकास की समग्रता है। इसलिये 'सौवर्ण' का शुभागमन होता है, जो 'महत् समन्वय' करने में पूर्ण समर्थ है। वह क्रान्त-द्रष्टा महामानव कदाचित् श्री अरविन्द ही है। कवि ने बड़े ही आकर्षक ढङ्ग से इस कथानक को छंद-बद्ध किया है। उदाहरण के लिए कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं। कवि ने नई संस्कृति के जन्म को निम्न पंक्तियों में देखा है :—

‘नया सांस्कृतिक वृत्त उदित हो रहा क्षितिज में,
मानव जीवन मन का नव रूपान्तर करने।
नव संगति में सँजो परिस्थितियों की भू को,
नवल संतुलन पर बहिरंतर के यथार्थ में।^१

एकाङ्गी विवास की (जो ऊर्ध्वोन्मुखी है) उपलब्धि का कवि ने स्वागत नहीं किया,^२ वरन् उसकी निम्न शब्दों में भर्त्सना की है—

बौने सा अंगुष्ठ मात्र ? यह विडम्बना है,
मानव मन की निश्चय, जो अतिभाव प्रवण हो।
घट को सागर में मज्जित करने के बदले,
सागर को बाँधना चाहता सीमित घट में।

× × ×

हाय, असम्भव को सम्भव करने की निष्फल,
चेष्टा में वह इन्द्रजाल रचता जाता नव।^३

इसी प्रकार कवि ने 'विज्ञान के समदिक्' प्रसार को भी एकाङ्गी मानकर उसका स्वागत नहीं किया—

१—सौवर्ण, पृष्ठ १६।

२—ऊर्ध्वोन्मुखी विकास चेष्टा को 'सौवर्ण' पृष्ठ २१-२२ में देखिये।

३—सौवर्ण पृष्ठ २२

वह देखो, समतल प्रसार फैला दृग सम्मुख,
जहां क्षुब्ध जन—ग्राम,नगर,गृह,हर्म्य,राजपथ ।
मृण्मय प्रतिमानों—से विखरे विगत युगों के,
उपचेतन के मान-चित्र-से अस्तव्यस्त जो ।

× × ×

बहु देशों में खंडित रुद्ध धरा का मानस
आज घृणित स्पर्धाओं, स्वार्थों से आतंकित,
घनीभूत होती विनाश की भीषण छाया ।
जन भू के मुख पर विषाद नैराश्य से भरी !'

और इसीलिए 'उद्वेलित' तथा 'उद्भ्रान्त' नागरिक,
'नव्य युगान्तर का आवाहन करते भू पर ।'^१

इस एकांगी संस्कृति विकास के प्रतिकूल कवि ने श्री अरविन्द जो
जो मानव ईश्वर है समन्वयवादी संस्कृति के प्रसार के लिये अवतरित
हुए हैं :—

“देखो कौन, खड़ा हिम अञ्चल में वह तापस
आरोहण करता मन के दुर्गम शिखरों पर,
जीवन की मधु भूमि छोड़कर कैसे मानव
यहाँ पहुँच पाया ? देवों के हित जो रक्षित !

+ + +

अन्न प्राण मन के प्रिय भुवनों को अतिक्रम कर
अधिमन के शिखरों पर जो अटका त्रिशंकु सा,
हाय, असंभव इच्छाओं की बलि का अज बन ।

+ + +

कुंचित अलकों पर उलझी सौन्दर्य रश्मियाँ,
सौम्य कांत मुख, भाव प्रतनु, कल्पना विहग वह

संप्रति भू जीवन मन से सूक्ष्मग, अति चेतन !

सृजन प्राण वह, निखिल असंभव संभव उसको !”^१

कवि ने उस क्रान्त दृष्टा ईश्वर मानव से श्री अरविन्द के समन्वय-
वादी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा इस प्रकार करवाई है:—

“सत्य एक है—व्यक्ति समाज, अनेक एक, जड़
चेतन, बाहर भीतर सब जिस पर अवलम्बित !
आवर्तन गति से विरोध जग के अनुप्राणित,
विश्व संचरण जीवन का वैषम्य संतुलित ।”^२

+ + +
मैं हूं वह सौवर्ण लोक जीवन का प्रतिनिधि !
नव मानव मैं, नव जीवन गरिमा में मंडित ।
युग मानस का पद्म, खिला जो धरा पंक में,
जड़ चेतन जिसमें सौन्दर्य संतुलित !

प्रथम एक अविभक्त सत्य मैं, फिर जड़ चेतन !
मैं ही मूर्त प्रकाश, सूक्ष्म औ, स्थूल जगत के
सतरंग छायातप में विकसित ! मर्त्य अमर मैं
जिसके अन्तर में भविष्य के शत स्वर्णिम युग

+ + +
विश्व समन्वय से मैं महत् समिष्ट प्रेरणा,
सृजन प्रेरणा मूर्तिमान जीवन स्पन्दन में !”^३

इस प्रकार कवि ने श्री अरविन्द-दर्शन को ‘सौवर्ण’ में बड़ी सफ-
लता के संगुफित किया है ।

१—सौवर्ण पृष्ठ ४८-४९

२— ” ” ४९

३— ” ” ५८-५९-६०

अतिमा

‘अतिमा’ के विज्ञापन में कवि ने स्वीकार किया है कि इसमें प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओं के अतिरिक्त अधिकांश रूप में ऐसी रचनायें हैं जो ‘ट्रान्सेन्डेन्टल’ हैं। इन महिमा-सम्बन्धी रचनाओं की भूमिका निःसन्देह अरविन्द-दर्शन से सम्बन्ध रखती है। कवि ने स्वयं ही कहा है कि इसमें ऐसी रचनायें संगृहीत हैं, “जिनकी प्रेरणा युग जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।”^१

कवि के ‘अतिमा’ के ‘विज्ञापन’ से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस में दो प्रकार की रचनायें संगृहीत हैं—(१) प्रकृति-सम्बन्धी (२) सृजन चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त। कवि के ‘अधिकतर’ शब्द-प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि इसमें विषय को लेकर कुछ ऐसी भी कवितायें हैं, जो उपर्युक्त विभाजन के अन्तर्गत नहीं आतीं। वे रचनायें हैं ‘नेहरूयुग’, ‘अभिवादन’, ‘लोकगीत’ ‘सह स्थिति’, ‘पंचशील’ आदि। किन्तु इस स्थल पर एतद्विषयक और प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओं का विवेचन अभीष्ट नहीं है। अस्तु, केवल अरविन्द-दर्शन से प्रभावित रचनाओं की ही चर्चा की जा रही है।

इस संग्रह के ४४ वें पृष्ठ पर संग्रहीत रचना का शीर्षक ‘अतिमा’ है। कवि ने अतिमा की व्याख्या अपने विज्ञापन में इस प्रकार की है, “वह मनः स्थिति जो आज के भौतिक मानसिक, सांस्कृतिक परिवेश के अतिक्रम कर चेतना की नवीन क्षमता से अनुप्राणित हो।” अतिमा शीर्षक रचना से इस व्याख्या को और स्पष्टता प्राप्त हुई है—

“यह अतिमा

तन से जा बाहर

जगजीवन की रज लिपटाकर
 उपचेतन के कर्दम में घँस
 घायल खोहों में घुस हँस-हँस
 अंधकार को छेड़ जगाती ।' १

‘अतिमा’ वह प्रकाश किरण है जो अंधकार को छेड़ती है, वह शक्ति है जो भू जीवन को विकसित करती है। इससे सिद्ध होता है कि कवि ने ‘अतिमा’ को चेतना की ज्योति के रूप में ग्रहण किया है। कवि ने इस रचना में श्री अरविन्द के इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि चेतना की वह किरण, जड़, अंधकार और अचेतन से चल कर अचेतन-अतिचेतन से परे ऊर्ध्वतम में विकसित होने जा रही है। उसके चतुर्मुखी विकास के कितने रूप और स्थितियाँ हो सकती हैं कहना असंभव है। कवि ने उन विकास रूपों में से कुछ को प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से मूर्त करना चाहा है। ‘अतिमा’ में संग्रहीत उन प्रतीक, रचनाओं के शीर्षक इस प्रकार हैं :—कौए, बत्तखें, मेढक, प्रकाश, पतिंगे, छिपकलियाँ, केचुल, स्वर्णमृग, ‘दीपक जलना’।

कौए, बत्तखें और ‘मेढक’ शीर्षक रचना में कवि ने इन ‘प्रतीकों’ के माध्यम से चेतना के विभिन्न स्तरों को स्पष्ट करना चाहा है। कवि ने इस रचना की प्रतीकात्मकता को इस प्रकार स्वीकार किया है—

‘भू का उपचेतन आवाहन,
 उत्कंठित करता रह रह मन,
 कौन साध, किन श्रवणों के हित,
 करती क्या गोपन संभाषण ।’ २

कवि का अभिमत है कि 'भू' का अर्थात् निम्न वृत्तियाँ ऊर्ध्वो-
न्मुखी चेष्टाओं में सतत संलग्न हैं और एक दिन ऐसा आयेगा जब वे
विकास की अन्तिम सरणि को प्राप्त कर लेंगी। 'कौए', 'बत्तखें' और
'भेढक' निम्न वृत्तियों के ही प्रतीक हैं जो ऊर्ध्व-चेतना का संस्पर्श
पाकर रूपान्तरित हो गए हैं। प्रतीक-विधान का 'अतिमा' में संग्रहीत
रचनाओं में यह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। 'प्रकाश' पतिंगे, छिपकलियाँ,
शीर्षक रचना को प्रतीतात्मकता के विषय में कवि ने स्वयं स्वीकार
किया है :—

पर प्रकाश प्रेमी पतंग या,
छिपकलियाँ केवल प्रतीक भर।
ये प्रवृत्तियाँ भू मानव की,
इन्हें समझ लेना श्रेयष्कर !^{१५}

और अग्रिम पंक्तियों में प्रतीक को इस प्रकार खोला है:—

ये आत्मा, मन, देह रूप हैं,
साथ साथ जो जग में रहते।

+ + +

तुच्छ सतह से उच्च ज्योति तक
एक सृष्टि सोपान निरन्तर।

जटिल जगत, गति गूढ़, मुक्ति चित्ति,
तीनों सत्य व्याप्त जगदीश्वर !^{१६}

इन पंक्तियों में श्री अरविन्द के इस मत को कि, जगत् जीव और
ब्रह्म एकही चेतना से संमद्ध हैं अनुस्यूत कर दिया गया है। प्रकाश आत्मा
का, पतिंगे मन का और छिपकलियाँ देह की प्रतीक हैं। प्रतीक-स्पष्टता
के कारण कविता व्यंग्यहीन होकर सतही स्तर की हो गई है। 'सोन—

२—अतिमा, पृष्ठ ६२

१—अतिमा, पृष्ठ ६२

जुही' शीर्षक रचना में भी निम्न चेतना के रूपान्तर की व्याख्या की गई है । 'भुजंगी' (जो निम्न चेतना है) सोनजुही (ऊर्ध्व चेतना) में रूपान्तरित हो गई है:—

मूल—स्थूल धरती के भीतर,
 खींच अचेतन का तम बाहर ।
 यह अपने अन्तर का प्रिय धन,
 शान्ति ध्वजा सा शुभ्र मणि सुमन ।
 कंपित मृदुल हथेली पर धर,
 उठा क्षीण भुज वृन्त उच्चतर ।
 अर्पित करती, लो, प्रकाश को
 निज अधरो के अमृत हास को,
 प्राणों के स्वर्णिम हुलास को ! '१

वाणी

‘अतिमा’ के पश्चात् ‘वाणी’ का प्रकाशन हुआ । इस संग्रह का मूल स्वर सामाजिक है । कवि ने स्वयं इसके विषय में लिखा है :—

व्यर्थ व्यक्ति मन का निशि पीड़ित
 उन्मन गुञ्जन,
 व्यर्थ आत्म दीक्षित, युग कुण्ठित
 जीवन दर्शन !
 आज चाहिए सामाजिक चिन्तन
 जग को सामूहिक जीवन,
 भू स्तर पर उन्नयन !

पर दर्शन सम्बन्धी ‘अतिमा’ की ध्वनि ‘वाणी’ में भी यत्र-तत्र प्राप्य होती है । ‘विकास-क्रम’ शीर्षक रचना (मत रोको, निर्मम मत

रोको जड़ की फिर चेतन बनने की गहन पिपासा) 'रूपान्तर' शीर्षक रचना में (मानवता को होना भीतर से संयोजित), 'रूपं देहि' शीर्षक कविता में (क्षितिज न हों, लोग हों, संस्कृत) 'जयं देहि' शीर्षक रचना में (आत्मजयी, भोगें जीवन सुख) तथा 'अग्नि संदेश' शीर्षक रचना की निम्न पक्तियों में अरविन्द-दर्शन का आभास मिलता है :—

भू जीवन को संयोजित कर
जगत धुरी को स्वस्थ कंध दो,
भूत कान्ति को बदल ।
श्रेयमय शान्ति गान में,
महानाश को अभयदान में ।
जीवन रति को प्रगति पंथ दो,
यांत्रिक मति को हृदय-स्पंद दो !

इसके अतिरिक्त 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' शीर्षक रचना में भी शांकर मायावाद का खण्डन कर अरविन्द-दर्शन की प्रतिष्ठा की चेष्टा दृष्टिगोचर होती है :—

जड़ से चेतन, जीवन से मन
जग से ईश्वर को वियुक्त कर
जिस चिन्तक ने भी युग-दर्शन
दिया भ्रांतिवश जन-मन दुस्तर,-
किया अमंगल उसने भू का
अर्घ सत्य का कर प्रतिपादन,
जड़-चेतन, जीवन-मन आत्मा
एक अखंड, अभेद्य संचरण ।”

+

+

+

अंतः स्वर्णिम नवचेन में
 आज प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वित
 वही शुद्ध अन्तः स्थित निश्चय
 जो जन भू जीवन में स्थित !”

‘आत्मिका’ शीर्षक रचना में जिसका उपशीर्षक है ‘संस्मरण और जीवन-दर्शन’ कवि ने अपने जीवन-दर्शन की व्याख्या की है। इसमें भी श्री अरविन्द-दर्शन को प्रधानता दी गई है।

कला और बूढ़ा चांद

‘पंत’ जी का अधुनातम प्रकाशित काव्य-संग्रह और ‘कला और बूढ़ा चांद’ है। इसका प्रकाशन दिसम्बर सन् १९५६ ई० में हुआ है इसमें ‘पंत’ जी की सन् १९५८ ई० तक की कविताएँ संग्रहीत हैं। ‘कला और बूढ़ा चांद’ की रचनाएँ सहज स्फुरण (Instui—tion) से प्राप्त सत्यों पर आधारित हैं। इन ‘स्फुरणों’ की अभिव्यंजना कवि ने प्रतीकों के माध्यम से की है क्योंकि भाषा भावाभिव्यक्ति में अक्षम रही है। ‘पंत’ जी ने अपनी इस प्रकार की कविता के छन्दों के लिए कहा है, ‘छन्दों की पायलें’ उतार दी हैं। कवि ने छन्दों के अभाव को नवीन बिम्बों और प्रतीकों की योजना से पूरा किया है। श्री अरविन्द के अनुसार ‘सहज-स्फुरण’ का वह धरातल जहां कवि भाषा के माध्यम से भावों को वाणी नहीं दे सकता, विज्ञानमय कोश का होता है। मन की साधना-यात्रा का यह स्तर अन्न, प्राण एवं मन के ऊपर होता है। अन्न, प्राण तथा मन के ऊपर अधिष्ठित भाव-स्पंद को सांसारिक अथवा प्रचलित भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है क्योंकि मन के इन स्तरों का क्षेत्र संसार से ही सबद्ध हैं। विज्ञानमय कोश की स्फुरणा को श्री अरविन्द ने सर्वश्रेष्ठ कविता के रूप में स्वीकार किया है। वह उसे मंत्र मानते हैं और मंत्र को सर्वश्रेष्ठ कविता। उस अनुभूति को भाषा अभिव्यक्त नहीं कर

सकती इसलिए प्रतीकों और बिंबों की भाषा का प्रयोग किया जाता है । पंत जी ने लिखा है—

“बोध के
सर्वोच्च शिखर से
बोल रहा हूँ^१

+ + +

भाषा नहीं
भाव नहीं—
वो अव्यक्त
तुम में समा न जाऊँ
आगे मौन है,
अतल मौन
केवल
निश्चल मौन^२

कवि ने उस 'निश्चल' मौन की अभिव्यक्ति के लिए इसीलिए शब्द और छन्द-बंध को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे अधिक बोलते हैं, बड़े मुखर हैं :—

शब्दों के कंधों पर
छन्दों के बंधों पर
नहीं आना चाहता !
वे बहुत बोलते हैं ।^३

कवि ने इसीलिए उस अनिर्वचनीय स्थिति की अभिव्यंजना के लिए

१—'कला और बूढ़ा चाँद' पृष्ठ १७९

२— „ „ „ „

३— „ „ „ „ १५२

सृष्टि विकास-क्रम में 'नये मानव' का अरविन्द के मतानुसार एक विलक्षण ही स्वरूप होगा। श्री अरविन्द ने उस मानव की स्थिति अतिमानस में मानी है। 'पंत' जी ने 'कला और बूढ़ा चाँद' की देन शीर्षक रचना में उसके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

काल नाल पर खिला

नया मानव

देश धूलि में सना नहीं !

+

+

+

एक है वह

अन्तः स्थित

बाह्य संतुलित

भविष्य मुखी

रश्मि पंख

प्राण विहग

सूर्य कमल

*

*

*

अन्तः प्रबुद्ध,

वहिः शुद्ध

पूर्व पश्चिम का नहीं,

काल की देन

अत्याधुनिक

अन्तर्विकसित

चैतन्य पुरुष

ज्योति पद्म ।^१

श्री अरविन्द चेतना के अवरोहण पर विश्वास करते हैं। उनका

कहना है कि ब्रह्म की शक्ति नीचे से ऊपर को जाती है जिसे उसका आरोहण कहते हैं तथा ऊपर से अवतरित भी होती हैं जिसे अवरोहण कहते हैं । उन्होंने इस क्रिया को दोहरा सोपान (Double ladder) कहा है । श्री पंत ने 'अवरोहण' शीर्षक रचना के अन्तर्गत उस 'शक्तिपात' के प्रभाव का वर्णन किया है :—

“मन के समस्त दुर्ग
यम नियम की दीवारे'
टूट कर
छिन्न-भिन्न हो गई !
तुम्हारे उन्मत्त शक्तिपात की
रति क्रीड़ा के लिए
मेरी कोमल तृणों की देह
लोट पोट हो
बिछ बिछ जाती है !

* * *
सौ सौ अग्नि लपटों में उठ
मेरी चेतना
सजग हो उठती है !
तुम्हारा विद्युत आनन्द
भाव प्रलय मचाकर
नयी सृष्टि करता है^१

इस प्रकार 'कला और बूढ़ा चाँद' में संग्रहीत अधिकांश कविताओं का स्वर 'अरविन्द-दर्शन' से विशेषतया प्रभावित है । इस संग्रह की अन्तिम रचना 'सिन्धु मंथन' की कुछ पक्तियाँ उद्धृत करके इस प्रसंग को समाप्त किया जा रहा है । इस कविता में कवि ने श्री अरविन्द

द्वारा समर्पित नूतन सृष्टि का आह्वान किया है और प्राचीन सभ्यता के नाश की कामना की है। इसकी महती आवश्यकता इसलिए है क्योंकि देश स्वतन्त्र हो गया है :—

मंथन कर
आत्म मंथन कर
ओ सागर,
ओ मानस,
ओ स्वाधीन देश
अन्तरमंथन कर !

X

X

X

ओ आत्म पराजित
एक बार क्रुद्ध होकर
अपनी आरीदार पूँछ
समस्त बल से
घरती पर मार—
फटकार
पुरानी केंचुल झाड़ !
नया यौवन
तेरी प्रतीक्षा में खड़ा है।
ओ गुप्त द्रोही
रीढ़ के बल रेंगना छोड़,
ऊर्ध्व मेरु बन !
नयी भूमियां निखर आई हैं,—
अपनी झूठी मणि फेंक कर
मुक्त नील तले
स्वच्छ वायु में विहार कर !¹

‘पंत’ जी के समग्र काव्य के परिशीलन से जहां हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ आकर काव्य में विषयों और रूपाकारों का विस्तृत रूप प्राप्त होता है वहीं उनकी विचार-सरणि एक सूत्रित होती हुई मानवता को पुरस्सर करने में संलग्न मिलती है। मानवता-रूपी तागे को पकड़ कर वे अरविन्द-दर्शन की ऊँचाइयों तक पहुँच सके हैं। किन्तु इसे भी असंदिग्ध रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि उनकी आधुनिक रचनाओं में दर्शन की बौद्धिक-स्तर पर अवतारणा उनके काव्य की रसवत्ता को उत्तरोत्तर छीनती गयी है और इस दृष्टि से उनके आधुनिक काव्य के परिवेश को साहित्येतर भी कहा जा सकता है। निश्चय ही ‘पंत’ ऐसे सरस और कोमल कवि के काव्य की यह कठोरता तथा नीरसता जहां उत्पन्न होने वाली वस्तु है, वहीं हम पंत ऐसे कवि के साहित्येतर जगत् में प्रविष्ट हो जाने में अपने को सौभाग्यशाली नहीं समझते। फिर भी ‘पंत’ जी की इस प्रकार की रचनाओं से काव्य के गत्यवरोध के समाप्त होने की हम सम्भावना तो कर ही सकते हैं। हमारा ऐसा विचार है कि साहित्य आगामी कल में काव्य-दर्शन से समन्वित होकर अपने स्वरूप की पहचान कर सकेगा तथा अधिक महिम बन सकेगा।

परिशिष्ट

अन्य प्रमुख छायावादी कवियों के काव्य पर दर्शन का प्रभाव

सुमित्रानन्दन पंत के अतिरिक्त जिन अन्य प्रमुख कवियों का छायावाद के सन्दर्भ में नाम लिया जाता है, वे हैं जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' तथा महादेवी वर्मा। इस अध्याय में उनकी विचार-सरणि के क्रमिक विकास को विभिन्न दर्शनों के सन्दर्भ में देखने की चेष्टा की जा रही है।

श्री जयशंकर प्रसाद

छायावाद के प्रमुख कवियों में श्री जयशंकर 'प्रसाद' के काव्य के अन्तर्गत दर्शन का स्वरूप सर्वाधिक स्पष्ट उतरा है। इसके प्रमुख कारण उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति तथा जीवन परिवेश रहे हैं। उन्होंने अपने प्रारंभिक जीवन में संस्कृत का अध्ययन किया था और साथ ही उपनिषद् भी पढ़े थे। उपनिषदों के अतिरिक्त वेदों, वैष्णव तथा शैव दर्शनों का भी विधिवत् अध्ययन किया था। उनकी विशेष आस्था शैव-दर्शन पर थी।

उपयुक्त दार्शनिक अध्ययन और अन्तर्मुखी वृत्ति का अतिशय प्रभाव यदि उनके काव्य पर भी प्रभूत रूप से पड़ा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। 'प्रसाद' जी के दर्शन में लौकिकता और आध्यात्मिकता के दोनों पक्ष समन्वित हो गए हैं। उनकी इसी विचार-सरणि को उनका जीवन

दर्शन कहना चाहिये । 'आसू' के अन्तर्गत लौकिक प्रेम को अलौकिक आध्यात्मिक स्तर पर अधिष्ठित करने का प्रयास उनकी एतद्विषयक विचार-सरणि का उत्कृष्ट उदाहरण समझना चाहिए ।

'लहर' के अन्तर्गत गौतम बुद्ध पर लिखी गयी रचनायें तथा 'अशोक की चिन्ता' और 'प्रलय की छाया' की अनेक चिन्तनपूर्ण पंक्तियों से भी उनकी दर्शन-प्रियता का परिचय प्राप्त होता है । किन्तु, इन रचनाओं में प्रसाद जी की दार्शनिकता का समग्र रूप उभर कर नहीं आता और न इसमें कोई शृंखला ही प्राप्त होती है । इन रचनाओं के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे मानों ऐसी रचनायें हैं जो कभी हलके रंग में दिखाई पड़ती हैं और कभी गहरे रंग में किन्तु कोई स्पष्ट चित्र नहीं निमित्त कर पातीं । किन्तु, 'प्रसाद' जी की इस अस्पष्ट—स्पष्ट-विचारधारा ने कालान्तर में कामायनी के माध्यम से एक उदात्त दर्शन प्रस्तुत किया ।

कामायनी में प्रसाद जी की दार्शनिक स्थापना

कामायनी में जहाँ प्रसाद की ~~के~~ प्रौढ़तम काव्य-रूप निखरा है, वहीं उसमें पुष्ट जीवन-दर्शन की भी अन्यतम स्थापना हुई है । किन्तु, इससे यह न समझना चाहिए कि प्रसाद जी ने काव्य की भावयित्री धारा से पृथक होकर दर्शन की चिन्तना-पूर्ण वृत्ति को अपने काव्य का प्रमुख विषय बनाया है । (विस्तृतः प्रसाद जी ने दर्शन की अनेक विचारणाओं को काव्य में इस प्रकार नियोजित किया है कि वह भी साहित्य का सौन्दर्यमय संस्पर्श पाकर भावमय हो गया है ।)

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन

यद्यपि कामायनी के अन्तर्गत दार्शनिक चिन्तना के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं, फिर भी उसमें काश्मीरीय प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की प्रमुख रूप में प्रतिष्ठा दृष्टि-गोचर होती है । अतएव सर्व प्रथम कामायनी से तत्संबंधी उदाहरण ही प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन आत्मा को चिति के रूप में स्वीकार करता है 'प्रत्यभिज्ञा हृदयम्' में इस चिति अथवा दिचात्मा को सर्वथा स्वतंत्र माना गया है (चितिः स्वतंत्रा, विश्व सिद्धि हेतुः) यही चिदात्मा स्वेच्छा से विश्व का उन्मीलन करता है:—

“स्वेच्छया स्वभित्तो विश्वमुन्मीलयति”

प्रसाद जी ने भी इसी चिति अथवा महाचिति के विलास को सृष्टि का रूप कहा है :

कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त”

—श्रद्धा सर्ग , पृ० ५३, अष्टम् संस्करण

यह स्वेच्छा से संसार का निर्माण करने वाली तथा इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया समन्वित है :

“सर्ग, इच्छा ही का है परिणाम”

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५३

+ + + +

इस त्रिकोण के मध्य बिन्दु तुम,
शक्ति विपुल क्षमता वाले ये ।
एक एक को स्थिर हो देखो,
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये ।

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६२

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की जीवन-संबंधी मान्यता भी प्रसाद जी कामायनी में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं । मनु के व्यक्तित्व—विकास में उनकी उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि हो जाती है । ‘प्रसाद’ जी ने ‘कामायनी’ में मनु का प्राथमिक स्वरूप, तीनों प्रकार के मलों और छः कंचुकों से आवृत प्रतिष्ठित किया है । जब तक वे इस स्थित में रहते हैं, उन्हें उचित मार्ग का ज्ञान नहीं होता । मनु की आणव अथवा जैव स्थिति निर्वेद सर्ग तक रहती है, जिसमें अभेद बुद्धि का एकान्त अभाव

रहता है। निर्वेद से लेकर 'रहस्यसर्ग' तक वे शक्ति स्थित में रहते हैं जहाँ उनका मन भेद-अभेद के दोले में झूलता रहता है। किन्तु, आनन्द सर्ग में जब उन्हें श्रद्धा द्वारा इच्छा, ज्ञान और क्रिया के त्रिकोण एक रूप होते दृष्टि-गोचर होते हैं तो उनके मन से द्विधा भाव मिट कर पूर्ण आनन्द मयी स्थिति हो जाती है। यही मनु की शिवत्व की उपलब्धि है।

नियतिवाद

जीव एवं आत्मा-संबंधी मान्यताओं के अतिरिक्त 'प्रसाद' जी ने नियति को भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुरूप ही स्वीकार किया है। प्रत्यभिज्ञा—दर्शन में नियति को ग्यारहवां तत्त्व स्वीकार किया गया है। अभिनव गुप्त पादाचार्य ने नियति को विशिष्ट कार्यों की योजना करने वाली शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। मालिनी विनयोत्तर तंत्र मृगेन्द्र तंत्र तथा स्वच्छन्द तंत्र में भी इसे विश्व के समग्र कार्यों की योजना करने वाली कहा गया है।

प्रसाद जी ने भी कामायनी के अन्तर्गत नियति को विश्व कर्म की संचालिका तथा नियोजिका के रूप में स्वीकार किया है।^१ मानव नियति द्वारा शासित होकर ही अनेक विधि कार्यों में व्यापृत होता है।^२ नियति को प्रसाद जी ने भी पूर्व-तंत्र-स्वतंत्र संता के रूप में स्वीकार किया है :

“देखते थे अग्रिशाला से कुतूहल युक्त,

मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बंधन मुक्त।

यह नियति एक ओर तो विश्व कार्यों की नियोजना करती है और दूसरी ओर जगत से उत्पन्न अहंकारादि का भी संयमन करती है। इस कार्य को संपन्न करने के लिए वह एक भीषण अभिनेत्री के समान अभिनय करती है। प्रसाद जी ने इस तथ्य का समर्थन निम्न पंक्तियों

१—नियति चलाती कर्म चक्र यह (रहस्य सर्ग पृष्ठ २६१)

१—उस एकान्त नियति शासन में चले विवश धीरे-धीरे।

(आशा सर्ग पृष्ठ ३४)

में किया है :

‘इस नियति-नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही ।’

—इडा सर्ग, पृ० २५८

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जहाँ नियति की इस प्रकार अपार शक्ति स्वीकृत हुई है । वहीं यह भी स्वीकार किया गया है कि जीवात्मा जब शिवत्व को प्राप्त कर लेता है तो फिर वह नियति के शासन-वृत्त से पृथक् हो जाता है । ‘प्रसाद जी ने भी ‘रहस्य सर्ग’ के अन्तर्गत शैवागमों की इस मान्यता को इस प्रकार स्वीकार किया है :—

“निराधार हैं, किन्तु ठहरना हम दोनों को आज यहीं है,

नियति खेल देखूँ न, सुनो अब इसका अन्य उपाय नहीं है ।

—रहस्य सर्ग पृष्ठ २६०

अस्तु, कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने कामायनी के अन्तर्गत नियति को परमात्मा की नियामिका शक्ति के रूप में स्वीकार किया है । उसी के शासन में विश्व के उत्थान-पतन होते रहते हैं । किन्तु, उसके शासन का आयाम विश्व तक ही सीमित है । जब जीवात्मा विश्व की परिखाओं को पार कर शिवतत्त्व की ओर उन्मुख होता है, वह नियति के शासन से मुक्त हो जाता है । ‘प्रसाद’ जी ने नियति को अहंकारादि का नियंत्रण करके विश्व को सुव्यवस्थित करने वाली और जीवात्मा को शिव की ओर प्रेरित करने वाली शक्ति के रूप में स्वीकार किया है ।

अभेदवाद और आभासवाद

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी तक एक चित रूप शिव से अभेद रूप से स्फुरित माना गया है । यह समग्र जड़-चेतन विश्व प्रकाश रूप शिव ही है । वास्तव में चित्ति रूप आत्मा ही देश-कालादि भेद से विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है । ^१ किन्तु, वास्तव में वह मूल रूप में एक ही है और अभेद रूप में विद्यमान है ।

इसी अभेदवाद को आभासवाद भी कहते हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी के अनुसार चित्ति ही अपने दर्पण में समग्र पदार्थों को प्रतिबिम्ब के समान आभासित करती है।^१ इसीकारण इसे आभासवाद कहते हैं।

समरसता का सिद्धान्त

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अन्तर्गत समरसता का भी-महत्वपूर्ण स्थान है। स्वच्छन्द-तंत्र के अनुसार समरसता को नदी-समुद्र संयोग के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार नदी समुद्र से संयुक्त होकर अपनी सत्ता को खो देती है और समुद्र के साथ एक रूप हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा परमात्म-भाव को प्राप्त कर सर्वतोभावेन शिव रूप हो जाता है। इसे ही सामरस्य स्थिति कहते हैं।^२ श्री अभिनव गुप्ताचार्य के मतानुसार आनन्द शक्ति में विश्रान्ति उपलब्ध करने के पश्चात् योगी को समरसता की स्थिति प्राप्त हो जाती है।^३

इस सामरस्य का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति है। इसके लिए उच्च नीच का विभेद नहीं है। 'प्रसाद' जी ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के इसी सिद्धान्त को कामायनी में इस प्रकार रखा है :—

‘नित्य समरसता का अधिकार उमड़ता कारण जलधि समान।’

वास्तव में वैषम्य लघुता और संकीर्णता को उत्पन्न करता है। समरसता में विशालता अथवा व्यापकता है। इसी विषमता के नष्ट होने पर समरसता अथवा अद्वैत स्थिति प्राप्त होती है। प्रसाद जी ने कामायनी के अन्तर्गत इस वैषम्य को ज्ञान, क्रिया और इच्छा के पार्थक्य के कारण माना है :—

१—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी भाग २ पृष्ठ १५३

२—स्वच्छन्द तंत्र भाग २ पृष्ठ २७६-२७७

३—तंत्रालोक भाग १ पृष्ठ २६

“ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है ।
 इच्छा क्यों पूरी हो मन की ।
 एक दूसरे से मिल न सके ।
 यह विडम्बना है जीवन की ।

—कामायनी पृष्ठ २७२

इन्हीं इच्छा, ज्ञान, क्रिया के पार्थक्य को समाप्त करने के पश्चात् मनु के अहं का समग्र—रूपेण निरसन हो जाता है और वे ‘अयं परः’ के भेद से उठकर समरसता को प्राप्त करते हैं :—

‘मनु ने कुछ-कुछ मुसकया कर ।
 कैलास ओर दिखलाया ।
 बोले , देखो कि यहाँ पर
 कोई भी नहीं पराया ।
 हम अन्य न और कुटुम्बी
 हम केवल एक हमी हैं ।
 तुम सब मेरे अवयव हो
 जिसमें कुछ नहीं कमी है
 शापित न यहां है कोई
 तापित पापी न यहां हैं
 जीवन वसुधा समतल है
 समरस है जो कि जहां है

—कामायनी पृष्ठ २८७-२८८

इस प्रकार प्रसाद जी ने कामायनी में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार समरसता के सिद्धान्त का भी सुनियोजन किया है ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का आनन्दवाद और कामायनी

प्रत्यभिज्ञा दर्शनान्तरगत आनन्द की उपलब्धि को सर्वोपरि उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया गया है । ‘नेत्र-तन्त्र’ के अनुसार ब्रह्म का

स्वरूप परमानन्द ही माना गया है ।^१ तन्त्रालोक के अनुसार अनुत्तरा-
वस्था के भीतर आनन्द की उपलब्धि होती है ।^२ प्रसाद जी ने भी
कामायनी के अन्तर्गत इसी आनन्दवादी धारा को ग्रहण किया है ।
कामायनी में इस आनन्दावस्था को सर्वथा अद्वैतावस्था में इस प्रकार
स्वीकार किया गया है :—

“समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था ।
चेतनता एक बिलसती
आनन्द अखण्ड घना था ।”

—कामायनी आनन्द सर्ग पृष्ठ २६४

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद जी ने काव्य की
सरस तथा आनन्दमयी भाव-भूमि पर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के सांग-रूप
को सुन्दर ढंग से प्रतिष्ठित किया है ।

यद्यपि ‘प्रसाद’ जी विशेष रूप से प्रत्यभिज्ञा दर्शन से ही प्रभावित
रहे हैं, फिर भी उनके काव्यान्तर्गत कुछ अन्य दार्शनिक विचारणाओं
का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है । इनमें प्रमुख हैं बौद्ध-दर्शन, न्याय-
वैशेषिक दर्शन (परमाणुवाद) तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ।

बौद्ध दर्शन (दुःखवाद)

बौद्ध-दर्शन की प्रमुख स्थापनाएँ हैं, दुःखवाद, क्षणिकवाद और
करुणा । बौद्ध-दर्शन के अनुसार समस्त जगत् दुःखमय है । भगवान्
बुद्ध द्वारा प्रतिष्ठित चार आर्य सत्य दुःख पर ही आधारित हैं । गौतम
बुद्ध ने भिक्षुओं को उपदेश देते हुए जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रायः सभी
सम्बन्धों और प्रसंगों का आधार दुःख ही माना है । प्रसाद जी मुख्य-
तया आनन्दवादी कवि हैं, फिर भी उनके ‘आंसू’ और कामायनी के

१—नेत्र तंत्र, भाग २ पृष्ठ २५

२—तन्त्रालोक २-३ - १६०

अन्तर्गत बौद्ध-दर्शन से प्रभावित कुछ पंक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी मिल ही जाती हैं । इस विषय की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :—

वेदना विकल फिर आई, मेरी चौदहों भुवन में
सुख कहीं न दिया दिखाई, विश्राम कहां जीवन में ।

—आंसू पृष्ठ ५५

उमड़ रहा है देव सुखों पर,
दुःख जलधि का नाद अपार —कामायनी पृ० ८
व्यथा की नीली लहरों बीच,
विखरते सुख मणिगण द्युतिमान

—कामायनी, पृष्ठ ५४

विश्व, कि जिसमें दुख की आंधी,
पीड़ा की लहरी उठती ।”

—कामायनी, पृष्ठ २२२

उपर्युक्त उद्धरणों से यह भली-भाँति स्पष्ट है कि ‘प्रसाद’ बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद से भी प्रभावित हुए हैं ।

क्षणिकवाद

दुःखवाद के समान ही बौद्ध-दर्शन जगत् को परिवर्तनशील होने के कारण उसे क्षणिक कहता है । बौद्ध-दर्शन ने इसकी तुलना दीपक की लौ से की है । मिलिन्द प्रश्न के अनुसार राजा मिलिन्द नागसेन से प्रश्न करता है कि जो व्यक्ति उत्पन्न होता है, क्या वह वही व्यक्ति है या दूसरा ? नागसेन ने उत्तर दिया ‘न वही है और न दूसरा ।’ दीपक के उदाहरण से उन्होंने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि जो दीपक रात्रि के प्रथम पहर में जलता है, वही रात भर नहीं जलता रहता । रात्रि के प्रथम चरण की दीपशिखा से आने वाले समय की दीपशिखा में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, यद्यपि दीपक एक ही होता है । यही दशा आत्मा की भी है । इस परिवर्तन को देखकर ही जगत् की क्षण-

भंगुरता का अनुभव होता है। 'प्रसाद' जी की कविता में भी बौद्धों की इस स्थापना का यत्र-तत्र संकेत मिल जाता है :-

(१) “मौन ! नाश विध्वंस ! अंधेरा !

शून्य बना जो प्रकट अभाव,
वही सत्य है, अरी अमरते,
तुझको यहां कहाँ अब ठांव ।
मृत्यु अरी चिर निद्रे ! तेरा
अंक हिमानी—सा शीतल,
तू अनन्त में लहर बनाती,
काल जलधि की सी हलचल ॥

—कामायनी पृ० १८

(२) जीवन तेरा क्षुद्र अंश है,
व्यक्त नील घनमाला में
सौदामिनी-सन्धि-सा-सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला में ।

—कामायनी पृष्ठ १६

इस प्रकार प्रसाद जी के काव्य के अन्तर्गत जीवन-परिवर्तन के सन्दर्भ में उसको क्षणभंगुरता का उल्लेख प्राप्त होता है और इसे बौद्ध-दर्शन का प्रभाव कहा जा सकता है ।

करुणा

बौद्धों के क्षणिकवाद के समान ही 'प्रसाद' जी ने उनकी करुणा विषयक विचारधारा को भी अपने काव्य में स्थान दिया है । यद्यपि करुणा-सम्बन्धी यह मान्यता बौद्धों के अतिरिक्त वैष्णवों में भी उसी महत्ता के साथ प्रतिष्ठित मिलती है । फिर भी बौद्ध-दर्शन ने इस भावना को अधिक प्रकर्ष दिया और इसी कारण करुणा अथवा महा-करुणा बौद्ध-दर्शन का विशेष अंग बन गयी ।

'प्रसाद' जी ने इस भावना को श्रद्धा द्वारा पालित पशु और

किलात—आकुलि में प्रसंग के सन्निविष्ट किया है। उस स्थल पर श्रद्धा के मुख से करुणा की महती प्रतिष्ठा कामायनी की अपनी वस्तु है।—

“औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सबको सुखी बनाओ।”

—कामायनी पृष्ठ १३२

इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि करुणा की भावना से हृदय में विशालता आती है और मानवता के उत्कृष्ट गुणों में से अहिंसा भावना का प्रादुर्भाव होता है, जिससे मानवता सुख-समृद्धि से भर जाती है।

परमाणुवाद और प्रसाद जी

कामायनी के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँचते हैं कि प्रसाद जी न्याय-वैशेषिक-दर्शन द्वारा प्रतिष्ठित परमाणुवाद से भी प्रभावित रहे हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन की स्थापना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु की सृष्टि परमाणुओं द्वारा हुई है। सबसे पहले दो परमाणुओं के संयोग से दो अणु संयुक्त सृष्टि हुई। इसके पश्चात् तीन अणुओं के संयोग से त्रयणुक उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चार त्रय-अणुओं द्वारा चतुरणुक सृष्टि हुई और चतुरणुक के उपरान्त उत्तरोत्तर स्थूल से स्थूलतर और स्थूलतम पदार्थों की सृष्टि होती गयी।^१

कामायनी में इस परमाणुवाद का संकेत निम्न पंक्तियों में मिलता है :—

“वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई,
अपने आलस का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिए।

कुंकुम कर चूर्ण उड़ाते से,
मिलने को गले ललकते से,
अन्तरिक्ष के मधु उत्सव के
निद्युतकण मिले झलकते से ।
वह आकर्षण वह मिलन हुआ
प्रारम्भ माधुरी छाया में,
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी
मतवाली अपनी माया में ।
प्रत्येक नाश—विश्लेषण भी
संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही,
ऋतुपति के घर मनोत्सव था,
मादक मरन्द की वृष्टि रही ।

—कामायनी पृष्ठ ७२-७३

इन पंक्तियों में प्रसाद जी ने अणु-परमाणुओं के सम्मिलन और उनके संश्लिष्ट रूप द्वारा सृष्टि-निर्माण का उल्लेख न्याय-वैशेषिक-दर्शन के अनुसार ही किया है ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रसाद के काव्य पर उसका प्रभाव

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की संक्षेप में स्थापना यह है कि जगत् के समग्र पदार्थों की उत्पत्ति 'मैटर' और गति (Motion) से हुई है । विश्व-निर्माण का उपादान द्रव्य (Matter) है और इसी से भौतिक पदार्थ मानव शरीर, मन आदि की रचना हुई है । वास्तव में भौतिक-वादी विचार-धारा, आध्यात्मिक विचार-धारा की विल्कुल विलोम है जो सृष्टि का उद्भव और विकास चेतन-शक्ति से मानती है ।^१

'प्रसाद' जी की कामायनी के अन्तर्गत भी इस भौतिकवादी-विचार-धारा के यत्र-तत्र दर्शन होते हैं । 'चिन्ता सर्ग' में देव सृष्टि के चित्रण

के अन्तर्गत उन्होंने इस भौतिकता का सन्निवेश किया है, जहाँ देवगण भोग-विलास को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं और अपने ऊपर किसी आध्यात्मिक शक्ति को स्वीकार नहीं करते ।^१

‘प्रसाद’ जी की एतद्विषयक चिन्ता-धारा ‘इड़ा सर्ग’ के अन्तर्गत भी दृष्टिगोचर होती है । सारस्वत नगर का विकास तो उन्होंने भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार दिखलाया ही है, साथ ही इड़ा के द्वारा मनु ने यह भी कहलवाया है कि इस सृष्टि के पीछे कोई चेतन-सत्ता नहीं है मनुष्य को अपने बाहुबल से ही कार्य करना चाहिए ।^१ इस प्रकार प्रसाद जी के ऊपर भौतिकवाद का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है ।

उपर्युक्त समग्र विवेचन से इस निष्कर्ष पर अत्यन्त सरलता से पहुँचा जा सकता है कि ‘प्रसाद’ जी के ऊपर विविध दार्शनिक पद्धतियों का प्रभाव पड़ा । किन्तु, वे मूलतः आनन्दवादी और रसवादी ही कर रहे हैं तथा विश्लेषण की अपेक्षा संश्लेषण के ऊपर उनकी विशेष आस्था थी । इसलिए उन्हें मूलतः प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का ही अनुयायी कहा जाना चाहिए अन्य दर्शनों को उन्होंने अपने मत की संपुष्टि के लिए ही ग्रहण किया है ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’ का काव्य और दर्शन

महाकवि ‘निराला’ का पालन-पोषण बंगाल के महिषादल जिले के अन्तर्गत हुआ था । इसलिए उनके ऊपर बंगभूमि की संस्कृति का विशेष प्रभाव पड़ा है । वे रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द की अद्वैतवादी स्थापनाओं से विशेष प्रभावित थे । अद्वैतवादी दर्शन से प्रभावित उनकी एक रचना कानपुर से प्रकाशित होने वाली ‘प्रभा’ में ‘अध्यात्म-फल’ शीर्षक से प्रकाशित हुई थी जिसके फलस्वरूप आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘समन्वय’ के सम्पादक के लिए स्वामी

१- कामायनी, पृष्ठ ८-९

२- कामायनी, पृष्ठ १७०

माधवानन्द को 'निराला' जी का नाम बतलाया था। सन् १९२२ में 'निराला' जी 'समन्वय' के सम्पादक नियुक्त हुए। वहाँ उन्हें परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की दार्शनिक स्थापनाओं का अध्ययन करने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ। तभी से इनका दर्शन से अभिन्न सम्बन्ध हो गया। उनकी श्रृङ्गार परक रचनाओं में भी दर्शन अनुस्यूत रहा है। 'जुही की कली' जैसी श्रृङ्गारिक रचनाओं में भी वह प्रभाव देखा जा सकता है। "जागृति में सुप्ति" के माध्यम से उन्होंने वेदान्त की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का प्रतिबिम्ब देख ही लिया। 'निराला' जी की 'जागो फिर एक बार' शीर्षक रचना यद्यपि राष्ट्रीय उद्बोधन गीत है फिर भी उसमें जीव के ब्रह्मत्व का स्मरण दिलाकर कवि के अद्वैत दर्शन की स्थापना की है:—

“तुम हो महान, तुम हो महान
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, काम-परता
ब्रह्म हो तुम
पद-रज भी रे नहीं पूरा यह विश्व भार—
जागो फिर एक बार ।”

इसी प्रकार कण' शीर्षक रचना भी अद्वैतपरक ही है। निम्नलिखित पंक्तियों के अन्तर्गत उनकी अद्वैत-प्रतिष्ठा देखी जा सकती है:—

तुम हो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व तुम में,
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ, तुममें भेद अनेक ?
+ + +
पाया हाय न अब तक इसका भेद ।

सुलझी नहीं ग्रन्थि मेरी, कुछ मिटा न खेद ॥

इसी प्रकार 'माया' शीर्षक रचना में भी अद्वैत-दर्शन की व्याप

दृष्टिगोचर होती है। ‘तुम और मैं’ शीर्षक रचना में ‘जीव’ और ‘ब्रह्म’ का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भक्ति-भावना के समग्र उन्मेष के साथ कवि ने प्रतिष्ठित किया है। इसमें कवि का भावुक हृदय दर्शन के साथ बड़े ही भावमय रूप में सम्बद्ध हो गया है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:-

‘तुम चित्रकार, घन पटल श्याम,
मैं तड़ित तूलिका रचना ।
तुम रण-ताण्डव उन्माद नृत्य
मैं मुखर मधुर नूपुर ध्वनि,
तुम नाद भेद ओंकार सार,
मैं कवि श्रृङ्गार शिरोमणि,
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुन्द-इन्दु अरविन्द-शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ।”

इन पंक्तियों में कवि ने विशिष्टाद्वैत-दर्शन की भव्य प्रतिष्ठा की है।

‘निराला’ जी और मार्क्स-दर्शन

‘निराला’ जी पर मार्क्स के अर्थ—सिद्धान्त पर आधारित वर्गवाद का भी प्रभाव पड़ा है। मार्क्स संसार को केवल दो वर्गों में ही विभाजित करता है— (१) शोषक वर्ग तथा (२) शोषित वर्ग। निराला जी ने शोषितों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। उनके काव्य-संग्रह ‘अनामिका’ से एतद् विषयक अनेक रचनायें उद्धृत की जा सकती हैं। उनकी तोड़ती पत्थर रचना की कुछ पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में देखिये:

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी स्वीकार,
श्याम तन, भर बंधा यौवन
नत नयन, प्रिय कर्म-रत-मन
गुरु हथौड़ा हाथ

करती बार-बार प्रहार,

सामने तरु-मालिका अट्टालिका-प्राकार ।”

इन पंक्तियों में पत्थर तोड़ने वाली के माध्यम से कवि ने शोषित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति दिखलाई है, साथ ही अट्टालिका, प्राकार के चित्रण द्वारा शीर्षक वर्ग पर घृणा-पूर्ण व्यंग्य किया है । इसी प्रकार शोषित वर्ग पर उनकी सहानुभूति का एक श्रेष्ठ चित्र ‘दान’ शीर्षक रचना में उपलब्ध होता है ।^१

इसी प्रसंग में उनकी बिधवा^२ एवं भिक्षुक^३ शीर्षक रचनायें भी ली जा सकती हैं । ‘निराला जी के कुरुरमुत्ता’^४ के अन्तर्गत भी शोषक और शोषित का ही ‘गुलाब’ और कुरुरमुत्ता के प्रतीकों द्वारा विचार किया गया है ।

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा मार्क्स-दर्शन की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त उनके काव्य के अन्तर्गत, भक्ति दर्शन का भी प्रभाव परिलक्षित होता है । भक्ति दर्शन के अनुसार साधक अपने इष्ट के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हो जाता है । यही उसकी अनन्यता का उत्कृष्ट प्रमाण है । ‘आराधना’ और ‘अर्चना’ शीर्षक काव्य संग्रहों में उनकी एदद्विषयक रचनाएँ संग्रहीत हैं । ‘आराधना’ की कुछ पंक्तियाँ देखिये, जिनमें एक भक्त का आत्मसमर्पण अंकित हुआ है : -

‘मन का समाहार

करो विश्वाधार ।

गहन कण्ठक जटिल,

गया है हृदय हिल,

लो थके को बार

१-अनामिका, पृष्ठ २२

२-परिमल द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १२६

३-वही १३३

४-कुरुरमुत्ता, प्रथमावृत्ति सन् १९४२, प्रकाशक युग मन्दिर, उन्नाव

कोई नहीं और
 एक तुम हो ठौर,
 दूर सब जन पौर
 भव से करो पार ।”

इस प्रकार ‘निराला’ जी के काव्यान्तर्गत, ‘अद्वैत’, ‘विशिष्टाद्वैत’, ‘माक्स दर्शन’ तथा ‘भक्ति दर्शन’ की उत्कृष्ट प्रतिष्ठा हुई है।

महादेवी वर्मा का काव्य और दर्शन

श्रीमती महादेवी वर्मा प्रमुख छायावादी कवियों में अकेली कवयित्री हैं, जिनका काव्य लौकिक धरातल पर अधिष्ठित नहीं हुआ है। उनके काव्य का विषय भी अत्यन्त सीमित रहा है। वे विशेष रूप से निराशा और विषाद की कवयित्री हैं। वे हास्य के अतिरिक्त आँसुओं के अधिक परिचित हैं और उनको इनके प्रति अतिशय प्रेम और गहन आस्था भी है। इसलिये उनके काव्य पर विशेषतया बौद्ध-दर्शन तथा शंकराचार्य के मायावाद का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

भगवान् बुद्ध ने संसार की वस्तुओं को परिवर्तनशील देख कर उसे दुःखमय माना है। शंकराचार्य ने भी केवल ब्रह्म को सत्य माना है और जगत् को मिथ्या कहा है। गौतम बुद्ध ने प्राण की प्रतिष्ठा करते हुए तथागत को संसार के प्राणियों के प्रति करुणा करने का उपदेश दिया है। किन्तु, श्रीमती वर्मा अपने काव्य के अन्तर्गत कहीं संसार को वेदना से पीड़ित देख कर दुःख प्रकट करती हैं तो कहीं दुःख को शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार करती हुई उसके प्रति आस्थावान् प्रतीत होती हैं। दुःख को अपने प्रियतम का आधार मानने में वे सूफी कवियों से भी प्रभावित दृष्टिगोचर होती हैं। उनके एतद् विषयक उदाहरणों से उनकी मान्यताएँ स्पष्ट हो जाँयगी।

‘यामा’ की ‘मैं नीर भरी दुख की बदली’ शीर्षक रचना कवयित्री

को 'बौद्ध दर्शन' के प्रभाव की उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। इसमें उन्होंने 'बदली' के प्रतीक के माध्यम से जगत् के परिवर्तन को रूपायित किया है। व्यंग्य रूप में दुःख को ही संसार का एकमात्र शाश्वत तत्व भी स्वीकार करती हुई प्रतीत होती हैं :—

मैं नीर भरी दुख की बदली।
विस्तृत नभ का कोना-कोना,
मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली।'

अन्यत्र वे दुःख को चिर सुख के रूप में स्वीकार करती हुई बौद्ध-दर्शन की स्थापनाओं के अत्यन्त निकट पहुँच गई है :—

'चिर ध्येय यही जलने का,
ढूँढ़ी विभूति बन जाना।
है पीड़ा की सीमा यह,
दुख का चिर सुख हो जाना।'

शंकराचार्य के मायावाद का प्रकृष्ट चित्र निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है, जिनमें कवयित्री ने ब्रह्म में चिर आनन्द और जगत् को दुःखमय माना है :—

'तुझमें अजस्र हँसी है,
इसमें अजस्र आँसू जल,
तेरा वैभव देखूँ या,
जग का क्रन्दन देखूँ।'

इस संदर्भ में 'मायावाद' प्रतिष्ठापिका निम्न पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं ; जिनमें उन्होंने जगत् को माया का देश कहा है :—

'सखे यह है माया का देश
क्षणिक है मेरा तेरा संग,

यहाँ मिलता कांटों में बन्धु ।
सजीला सा फूलों का रङ्ग,
तुम्हें करना विच्छेद सहन
न भूलो हे प्यारे जीवन ।'

इस प्रकार श्रीमती बर्मा ने अपने काव्य को दार्शनिक चिन्तनाओं से समृद्ध किया है और मानवीय मूल्यों से उदात्तीकरण की चेष्टा की है ।

अस्तु, 'छायायुगीन' कवियों की दार्शनिक स्थापनाओं से इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि उनकी यह चेष्टा मानव के हितों को लेकर रही है । वे चाहते थे कि मानव का नैतिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक स्तर समुन्नत हो । इसे असंदिग्ध रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि मानवता की उदात्त प्रतिष्ठा तथा मूल्यांकन में हिन्दी के छायावादी कवि संसार के किसी युग के कवि से पीछे नहीं हैं ।

